श्री भागवत-दर्शन ::-

# भागवती कथा

## ( तैंतीसवाँ खण्ड )

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥



लेखक

श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

●

प्रकाशक

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

●



तृतीय संस्करण } वैशाख { मूल्य : १.६५
१००० } सं० २०२८ {

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग ।

# विषय-सूची



—०—

# अन्तर्द्वन्द्व

[ भूमिका ]



यस्मिन् यतो यर्हि येन च यस्य यस्मात्,
यस्मै यथा यदुत यस्त्वपरः परो वा।
भावः करोति विकरोति पृथक्स्वभावः,
सञ्चोदितस्तदखिलं भवतः स्वरूपम् ॥*

(श्री भा० ७ स्क० ९ अ० २० श्लो०)

छप्पय

*संग्रह बनि के श्याम! कबहुँ हँसि हियमहँ आओ।*
*पुनि विराग बनि विभो! व्यर्थ सब वस्तु बताओ॥*
*सेवा शिक्षा देहु, मनोरथ महल रचाओ।*
*छिन महँ सुन्दर-सुघर महल रज माहिं मिलाओ॥*
*जल भरि-भरि रीते करो, रीते पात्रनि पुनि भरो।*
*काम-धाम तुम कूँ न कछु, बालकवत् क्रीड़ा करो॥*

---

* प्रह्लादजी भगवान् नृसिंह की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"प्रभो! पृथक्-पृथक् स्वभाव वाले जितने पर और अपर कर्ता हैं, वे जिसकी प्रेरणा से कर्म करते हैं, जिसके द्वारा करते हैं, जिसके लिये करते हैं, जिससे करते हैं, जिसका करते हैं, जिसमें करते हैं, जिस प्रकार जो भी कुछ पैदा करते हैं, अथवा विपरीत करते हैं, वह सब आपका ही स्वरूप है।"

जिनके जीवन में निरन्तर आन्तरिक युद्ध न उठता रहता हो, वे या तो गुणातीत हैं या फिर जड हैं। जिसमें तनिक भी विचार, विवेक, वैराग्य और विषय विमर्श की क्षमता है, उस को तो पग-पग पर अपने कार्यों की, उनके परिणामों की, तथा हित-अहित की निरन्तर समीक्षा करनी ही पडती है। प्राणी व्यसनों से विवश है। व्यसन उसे कहते हैं, जिसमें अशन-भोजन् से भी वैशिष्ट्य हो। जैसे किसी को धूम्रपान का व्यसन हो गया है। अब वह अशन के बिना रह सकता है, किन्तु व्यसन के बिना नहीं रह सकता। एक दिन उसे रोटी न दो, यह उसे स्वीकार होगा, किन्तु उसके लिये धूम्रपान का प्रबन्ध अवश्य कर दो। कुछ-न-कुछ व्यसन तो सबको ही होता है, किसी भी व्यसन के बिना प्राणी जीवित नहीं रह सकता। अब हमें समीक्षा इसी बात की करनी है, कि यह व्यसन हमें परमार्थ की ओर ले जा रहा है या स्वार्थ की ओर, इसका परिणाम हमें प्रभु के पाद-पद्मों में ले जाना है या ससार-जाल में फँसाना। जो व्यसन हमें भगवान् की ओर ले जाय, वास्तव में वही उत्तम व्यसन है, वह सर्वथा ग्राह्य है। जो संसार में हमें फँसावे, वह व्यसन कितना भी अच्छा हो, दुर्व्यसन है और उसे त्याग देने में ही हमारा कल्याण है।

मैं अनेक वार पाठकों को बता चुका हूँ मुझे लिखने का व्यसन है। मैंने सोचा था कि और कुछ होता नहीं तो भगवान् और भक्तों के विषय में कुछ लिखते ही रहो। इसीलिये, उन्हीं की प्रेरणा से, उन्हीं की शक्ति से, उन्हीं के बताये सकेतों पर, मैं शुभ्र कागजों को काला करता हूँ। लिखने पर उनमें जो ममत्व हो जाता है—इन लेखों द्वारा मेरी प्रसिद्धि हो, प्रतिष्ठा हो, नाम हो—इसका उदय होना पाप है, अर्थात् दूसरे की वस्तु को अपना

घताना यह एक अक्षम्य अपराध है। इसीलिये बार-बार यह
प्रेरणा होती है कि शीघ्र लेख छपें, शीघ्र इनका प्रचार-प्रसार
हो। छपना—प्रचार करना—व्यापार है। जिसे व्यापार करना
नहीं आता, वह यदि व्यापार में प्रवृत्त होगा, तो सिवाय अनर्थ
के और क्या करेगा! उसके साथ के दूसरे व्यापारी, जिनका माल
भी अपनी दृष्टि में बहुत अच्छा नहीं है, किन्तु जिन्हें व्यापार
का ढंग मालूम है, अपने से बहुत अधिक प्रचार कर ले जाते
हैं, उन्हें देखकर ईर्ष्या होती है। मन में व्यापार-वृद्धि की
वासना है, किसी कामी या कामिनी के द्वारा प्रचार की आशा
है, तो उनसे इच्छा न रहने पर भी सम्बन्ध स्थापित करना ही
पड़ता है। इससे दम्भ बढ़ता है, दुर्गुण आते हैं। इच्छानुसार
व्यापार न हो, तो क्रोध आता है। व्यापार-वृद्धि के लिये लोभ
का भी आश्रय लेना पड़ता है लोगों की ऐसी धारणा बन गयी
है, कि असत्य के बिना व्यापार चलता नहीं, अतः बात-बात पर
वे असत्य बोलेंगे। व्यवहार में छल-प्रपञ्च, एक दूसरे को ठग
लेना आदि बातें साधारण हो गयी हैं। जो जितना ही अधिक
भूठ सच बोलकर लोगों से कपट-व्यवहार करके धन पैदा कर
लेता है, समाज में उसका उतना ही अधिक मान होता है।
काजल की कोठरी में जाय और एक रेख काजल की न लगे, यह
असम्भव है। इन बातों को मैं पहले ही जानता था, फिर भी मैं
व्यवहार में पड़ गया। इसे प्रारब्ध कहूँ या प्रमाद—इसका निर्णय
पाठक ही करें। दूसरे लोग प्रारब्ध कहें तो उचित भी है, पर मुझे
तो इसे प्रमाद ही कहना चाहिये।

'भागवती कथा' का प्रकाशन जब आरम्भ किया गया था,
तब उसके प्रथम खण्ड की भूमिका में लिखा गया :
खण्ड निकाल कर मैं उससे पृथक् हो जाऊँगा, [illegible]

हो सका। जिन्होंने यह भार उठाने का मुझे आश्वासन दिया था, वे अब दृष्टि उठाकर भी नहीं देखते। फिर मैंने किसी खण्ड की भूमिका में लिखा था "बाबाजी चक्कर में फँस ही गये।" वास्तव में बाबाजी के चक्कर में फँसने में कुछ भी शेष नहीं रहा। अन्तर्द्वन्द्व बराबर चल रहा था, इसी द्वन्द्व में २९ खण्ड निकल गये। प्रेसों के त्रास से बचने के लिये झूंसी में एक छोटा प्रेस भी लिया गया, किन्तु उससे सुविधायें न होकर असुविधायें ही बढ़ीं। कहावत है—"स्वल्प पूँजी स्वामी को खा जाती है।" चार पृष्ठ की उस छोटी मशीन से 'भागवती कथा' जैसा विशाल ग्रन्थ कैसे छपे? इधर जब सब लिखे अध्यायों को खण्डशः लगाया, तो अब तक लगभग ४ वर्ष में ५३ खण्ड ही लिखे जा सके। यद्यपि मैं ऐसा कोई प्रकाशन-सम्बन्धी प्रयास नहीं करता था, फिर भी चित्त की वृत्तियाँ तो उस ओर लगी ही हुई थीं। मन में अनेक तरंगे उठती रहतीं—"तुम्हारा यह पतन हो गया है, भजन-पूजन सब छूट गया है, यह नियम बनाओ, वह बनाओ, किसी से मिलो मत, प्रकाशन की सोचो ही मत जैसा हो, उसे देखते रहो, या सबको भगवान् का काम सोचकर निश्चिन्त हो जाओ।" इस प्रकार के विभिन्न विचारों के उदय से मैं कुछ निर्णय न कर सका। कोई नियम भी करता तो उसे अपनी दुर्बलता से न निभा सकता। अन्त में आज से तीन चार महीने पहले मैंने निर्णय कर लिया कि अब मुझे प्रतिष्ठानपुर की प्रतिष्ठा का परित्याग करके एक दिन यहाँ से चुपके से चला जाना चाहिये। आँखों के सामने न ये सब वस्तुएँ रहेंगी, न इनमें मन जायगा। इससे मन में शान्ति हुई। अब इसके विपरीत विचार उठने लगे—"तुम चले जाओगे, तो और सब तो उजाड़ हो ही जायगा, प्रकाशन भी बन्द हो जायगा।" फिर सोचता—"तू

करने कराने वाला कौन है ? श्रीहरि ही सब करने कराते हैं। उन्हें प्रकाशन चालू रखना होगा, तो तेरे रहने से ही क्या होगा ? तू इसमें से अपना अहंकार छोड़कर चुपचाप किसी पुण्य तीर्थ में बैठकर राम राम रट, और जो समय बचे, उसमें भागवती कथा के शेष खण्डों को लिख।" भगवान के ऊपर सब कुछ छोड़ने की बात से चित्त में दृढ़ता आई। संकीर्तन-भवन का एक संरक्षण संघ बनाया गया, जिसके स्वामी श्री ब्रह्मचैतन्यपुरीजी, श्री श्यामप्रकाशजी, पं० मूलचन्दजी मालवीय, लाला रामनारायण लालजी बुकसेलर के सुपुत्र बा० वेणीप्रसाद जी, पं० रामकृष्णजी शास्त्री, वैद्यनाथ प्राणदा के स्वामी पं० रामनारायण जी वैद्य और बाबू श्यामसुन्दर संरक्षक (ट्रस्टी) बनाये गये। श्री गजाधर प्रसाद जी भार्गव भी वैधानिक परामर्श-दाता नियुक्त हुए। इस प्रकार संकीर्तन भवन का राजकीय विधि-विधान से संरक्षण संघ (ट्रस्ट) बन गया। तब मैंने निश्चय कर लिया, कि चैत्र का नव संवत्सर-महोत्सव समाप्त हुआ, और मैं वैशाख कृ० तृतीया को यहाँ से बिना किसी से कहे चल दूँगा। यह संकल्प दृढ़ था, इसका जितना भी प्रबन्ध होना चाहिये था, सब कर लिया था मैंने.भागने की समस्त योजनायें बना ली थीं। अब प्रश्न उठा—भागकर चलूँ कहाँ ? मैं गंगा-तट या पुण्यतीर्थों को छोड़कर तो कहीं रह नहीं सकता। एक बार मन में आया, वृन्दावन में चलकर रहूँ; किन्तु फिर सोचा कि वहाँ तो बाल्य काल से रहा, पढ़ा, वह तो अपना घर ही है, वहाँ तो यहाँ से भी अधिक भीड़ हो जायगी। फिर सोचा—'बदरीनाथ चलूँ।' किन्तु वहाँ की जलवायु विशेष अनुकूल पड़ती नहीं, दो-चार महीने रहकर भागना पड़ता है। कई बार तो गया-आया ! अन्त में सोचा—"अच्छा, द्वारका जी चला जाय, शेष 'भागवती कथा' के खण्ड वहीं लिखे जायँ।"

भण्डाफोड हो जायगा लोग रोने धोने लगेंगे। किन्तु बिना उन्हें पहले कहे प्रबन्ध भी तो नहीं हो सकता।" यही सोचकर अक्षय तृतीया के एक दिन पहले द्वितीया को जब हम संगम से लौटकर आये, तब मैंने राजा को एकान्त में बुलाया और कहा—"हम तुमसे एक गुप्त बात कहते हैं, किसी से कहोगे तो नहीं।" उन्होंने कहा—"जब आप मना करते हैं, तब हम वैसा क्यों किसी से कहेंगे?"

मैंने कहा—"अच्छा, शपथ करो।"

उन्होंने कहा—"हाँ, शपथ की।"

तब मैंने उसे आदि से अन्त तक सब बातें बतायीं और कहा "अब द्वारका चलना है, तुम्हें भी साथ चलना होगा।" यह सुनते ही उसकी आँखें झरने लगीं। वह बोला—"महाराज! यह सब कलङ्क मेरे मत्थे लगेगा। सब मुझे ही अक्रूर कहेंगे। फिर आप से यह भी कैसे कहूँ कि आप ऐसा न करें, मुझे तो जैसी आज्ञा होगी, वैसा करूँगा—चलूँगा।"

मैंने कहा—"अच्छा, तुम आज सायंकाल को चले जाना, अपना सब सामान लेकर, जो विशेष सामान हो, उसे वैद्यजी के यहाँ रख देना। अमुक स्थान से मोटर लेकर कल प्रातः संगम पर आ जाना।"

तब उसने आँसू पोंछते हुए कहा—"महाराज! यह तो आप कठिन काम मुझे सौंप रहे हैं। यह मेरी शक्ति के बाहर की बात है। मैं पीछे पीछे चला अवश्य चलूँगा, किन्तु मोटर लेकर मैं नहीं आ सकता। सब का शाप मेरे ही ऊपर पड़ेगा। अक्रूर जी को सब गोपियों ने शाप दे दिया कि तुम क्रूर हो। और हुआ भी ऐसा ही सचमुच वे क्रूर हो गये, साधारण मणि के पीछे वे भगवान् से विमुख हो गये। प्रेमियों का शाप अमोघ होता है।"

मैंने कहा—"भैया! मैं तो अभागा हूँ। मुझसे संसार में प्रेम करता ही कौन है? मेरा प्रेमी कोई नहीं, यह सब शिष्टाचार है।"

उन्होंने कहा—हाँ, यह तो मैं भी जानता हूँ, कोई आप से प्रेम नहीं करता। इतने लोग यहाँ रहते हैं, उन सब को दुःख तो होगा ही। मोटर लाने की बात मुझसे मत कहिये।"

मैंने कहा - "अच्छी बात है। उसका प्रबन्ध मैं कर लूँगा। तुम संगम से मेरे साथ चलना।" यह सुनकर वे चले गये और यात्रा की सब तैयारियाँ करने लगे। अब तक यह बात अकेले मैं जानता था, अब चार कानों में पहुँच गयी।

सायंकाल शर्माजी को भी बुलाकर उनसे भी शपथ कराकर मैंने सब बातें कहीं और वे भी चलने की तैयारियाँ करने लगे।

हाँ, इसके एक ही दिन पहले श्री-श्री माँ आनन्दमयी का एक आदमी आया। उसने कहा—"यहाँ शिवजी की प्रतिष्ठा है, अक्षय तृतीया के दिन चाहे कुछ घण्टों के ही लिये सही, पिताजी को यहाँ आना ही चाहिये।" मुझे तो भागना था ही, मुझे यह अवसर मिल गया। कहने को भी हो गया कि काशी जा रहा हूँ। मैंने कहला दिया—"मोटर भेज दें मैं आऊँगा।" जो मोटर संगम पर बुलायी थी, उसे मैंने रोक दिया। माताजी का दूसरा आदमी आ गया कि अक्षय तृतीया को प्रातःकाल मोटर पहुँच जायगी।

द्वितीया के दिन कथा कीर्तन से लौटकर मैं यहाँ आया। मन में अनेक विचार उठ रहे थे। कुछ हर्ष भी था कुछ खेद भी। हर्ष तो यह था, कि लगभग इस पाँच वर्ष के कारावास से मुझे मुक्ति मिलेगी, स्वच्छन्द संसार में विचरण का अवसर मिलेगा। खेद यह था कि कल से त्रिवेणी का स्नान; संगम के दर्शन और गङ्गा जल-पान से वञ्चित रहूँगा। कुटिया की लता-पताओं और छोटे-

छोटे पौधों का भी मोह होगा, किन्तु उसकी अनुभूति नहीं हुई। कीर्तन भवन से लौटते समय मन में कुछ द्विविधा-सी हुई। कल मेरे चले जाने पर आश्रम का जो दृश्य होगा, उसका चित्र सम्मुख उपस्थित हुआ। अब तक दृढ़ता थी, अब उस दृढ़ता में शिथिलता ने प्रवेश किया। अब तक निश्चय था कि बिना किसी को सूचना दिये चलूँ। अब मन में आया कि चलना ही है, तो सबसे कहकर चलूँ। राजा भैया साथ थे, मैंने पूछा—"कहो भाई! तुम्हारी क्या सम्मति है?"

उसने चौंक कर पूछा—"कैसी सम्मति?"

मैंने कहा—"यही कि हमें इस प्रकार जाना उचित है या नहीं?"

उसने कहा—"महाराज! हमसे यदि सम्मति पूछी जाती है तो हमें स्पष्ट कहने की अनुमति मिलनी चाहिये।"

मैंने कहा—"हाँ स्पष्ट ही कहो।"

वह बोला—"मुझे तो आपका जाना अनुचित ही प्रतीत होता है। इसके कई कारण हैं।"

मैंने कहा—"कौन कौन कारण हैं?"

वह बोला—"आपके बिना यह जो पसारा है, वह कल कुछ न दीखेगा।"

मैंने कहा—"न दीखे मुझे क्या? श्रीहरि ने ही सब किया है। मेरा किसी से मोह नहीं। मेरा स्वरूप ही है। मुझे राग हो गया है, इसीलिये ऐसा निश्चय किया है।"

वह बोला—"न राग हो, फिर भी जो कार्य आपके द्वारा हो रहा है, वह अधूरा रह जायगा। उसमें यह बड़ा भारी विघ्न है। द्वारका भगवत् क्षेत्र है, यह सत्य है, किन्तु मैं तो उस देश में बहुत रहा हूँ। इतना भारी विशाल एकान्त क्षेत्र कहीं न मिलेगा—

कहीं भी नहाने जाओ, जन-समूह में होकर जाना पड़ेगा। यह प्रतिष्ठानपुर ही ऐसा स्थान है जहाँ मील भर तक एकान्त कछार में जाकर त्रिवेणी स्नान कर लो। वहाँ ऐसा मीठा गंगाजल कहाँ मिलेगा ? और सबसे बड़ा बात यह है कि जैसा लेखन का यहाँ वायुमण्डल निर्मित हो गया, वहाँ वैसा निर्माण करने में भी समय लगेगा। फिर कविता की किसी स्थान विशेष पर ही स्फूर्ति होती है। सम्भव है, वहाँ कविता की स्फूर्ति न हो। सो यह 'भागवत् चरित' जो छप्पयों में लिखा जा रहा है, अधूरा ही रह जायगा।"

अन्तिम बात ने मेरे हृदय पर प्रभाव डाला। यथार्थ में कविता की स्फूर्ति मुझे सर्वत्र होती ही नहीं। नौका में, बीच गंगा जी में, या इस कुटिया में–दो ही स्थानों पर कविता की स्फूर्ति होती है और ऐसा लगता है मानों मुझसे कोई लेखनी पकड़कर लिखवाता रहता है। अन्य कहीं मैंने कविता की भी हो, तो बहुत न्यून और चलती-फिरती।

अब मन की विचार-धारा बदली। मोह में जैसे अपने को कर्ता मानकर विचार उठते हैं, वैसे उठने लगे—"नया ही नया ट्रस्ट हुआ। ट्रस्टी लोगों के सिर पर एक साथ इतना भार पड़ जायगा। यद्यपि ३६ खण्डों के छपने का प्रबन्ध हो चुका है, किन्तु कौन जाने, पीछे अधूरे खण्ड छपते हैं या नहीं। ३६ खण्डों तक खण्ड पाठकों के पास न पहुँचेंगे, तो जो भावुक ग्राहक टकटकी लगाये भागवती कथा के प्रत्येक खण्ड की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा करते रहते हैं, उन सबका शाप मुझ पर लगेगा। आश्रम पर लगभग पन्द्रह सहस्र रुपये का ऋण है। अभी तक तो लोगों को विश्वास है कि देर-सबेर सब मिल जायगा। मेरे जाते ही जिनका रुपया चाहिये, वे आकर पन्तजी, खजाञ्ची जी साथ घेरेंगे। ये लोग कैसे सङ्कट में पड़ जायँगे ?" अब

विचार भूल गये, मोह के विचार उठने लगे – "वहाँ गये और कविता की स्फूर्ति न हुई तो, फिर अपना-सा मुँह लेकर यहाँ लौटना पड़ेगा। फिर उठी पैंठ आठवें दिन लगती है, सब अधूरा ही रह जायगा। त्रिवेणी छूट जायँगी, इस गरमी में सुराही का अत्यन्त शीतल ठण्डा ठण्डा गंगाजल पीने को न मिलेगा। कितने दिन से लोग श्रीकृष्ण चरित की आशा लगाये बैठे हैं। छत्तीसवें खण्ड से श्रीकृष्ण चरित आरम्भ होता है और ५० वें खण्ड तक जाता है में भी यही आशा लगाये हुए हूँ कि कमसे कम ये पचास खण्ड तो छपकर पाठकों के हाथों में पहुँच ही जायँ।" इन विप रीत विचारों के आने से मेरे निश्चय में शिथिलता आ गयी।

मैंने कहा—"अच्छा, कल इस पर विचार करूँगा। न होगा, तो सबसे ही कहकर ही जाऊँगा।"

मैंने देखा, मुझमें पहले-जैसा भगवान पर विश्वास न रहा। पहले में कहीं चलता था, तो यों ही चल देता था। यह विचार भी नहीं करता था कि टिकट के पैसे कहाँ से मिलेंगे। कितने भी आदमी साथ हों, चल दिये। स्टेशन पर टिकट का कहीं कोई प्रबन्ध हो ही जाता था। इस बार कई दिन पहले से मैंने जाने का निश्चय कर लिया था। जाने के एक दिन पहले चुपके से बा० वेणीप्रसाद जी से ४००) किराये के मँगा भी लिये थे। अब चित्त संशय में पड़ गया।

राजा ने कहा—"आप अभी ठहरें। या तो भगवान आप से ही इस सम्बन्ध में कुछ कह देंगे या स्वप्न में ही कोई आदेश कर देंगे।"

यह सोचकर मैं सो गया। प्रातःकाल बहुत सवेरे उठकर त्रिवेणी स्नान करने गये। राजा ने कहा "कहो क्या आदेश हुआ। कुछ स्वप्न हुआ ?"

मैंने कहा—"आदेश तो कुछ नहीं मिला। स्वप्न यह देखा कि हम गंगाजी में डुबकी लगा रहे हैं, एक कङ्कण मिला है।"

उसने कहा—"इसके तो दोनों अर्थ हो सकते हैं–या तो त्रिवेणी मैया कहती हैं कि मैं तुझे कङ्कण पहिनाये देती हूँ, यहीं रह, या वे कहती हैं कि यह उपहार लेता जा।"

मैं स्नान करके लौटा, तो संगम पर कुछ पण्डित हवन कर रहे थे। उन्होंने मुझे सत्कार-पूर्वक बुलाया और माला पहनायी। कुछ निर्णय ही न कर सका कि क्या आदेश है, क्या उपदेश है।

आश्रम पर आकर पुरी जी और हरेराम महाराज को बुलाया और उनसे सब बातें कहीं। उन्होंने कहा—"न आप हमारे रोकने से रुक सकते हैं, न हमारे कहने से जा सकते हैं। भगवान् को जो आपसे कराना होगा, वह अवश्य करावेंगे। यहाँ कथा लिखानी होगी, तो आप जाना भी चाहेंगे, तो नहीं जा सकते। कहीं बाहर जाकर ही कथा लिखानी होगी, तो आप यहाँ रहना भी चाहें, तो नहीं रह सकते। प्रथम खण्ड की भूमिका में लिखा है कि यहाँ त्रिवेणी पर ही कथा लिखा करूँगा। मुझसे उसे पूरा कराना होगा तो वे मुझे यहाँ रखेंगे।"

मैंने कहा—"कथा लिखने में मुझे कोई आपत्ति नहीं। एक तो मुझे अनुभव होने लगा है कि मेरा त्याग-वैराग्य सब समाप्त होकर मैं माया-मोह में फँस रहा हूँ। मुझे आश्रम की, रुपयों की, ईंट पत्थरों की चिन्ता रहने लगी है। इससे न तो अब कुछ लिखा ही जाता है; न भजन ही होता है।"

उन्होंने कहा—"आप जहाँ भी जायँगे, वहीं ऐसा होगा। पहले जैसा नियम बना लें। कथा-कीर्तन के अतिरिक्त किसी से जैसे पहले नहीं मिलते थे, वैसे मिला मत करें, आश्रम में चाहे कुछ हो। भगवान् सब प्रबन्ध करेंगे। आपको तो अनुभव नहीं

यह भगवती कथा का कितना बडा कार्य भगवान् आपके द्वारा करा रहे हैं। इसका महत्व आपको अभी नहीं जान पडेगा, इस का पीछे पता चलेगा। आप त्रिवेणी और अपनी कुटी से सम्बन्ध रखें, आश्रम की, प्रेस की, प्रकाशन की—सब चिन्ता छोड दें।" पुरी जी महाराज ने भी इसी का समर्थन किया। उन्होंने कहा—"आपका यहाँ छः वर्ष रहने का तो आरम्भ से ही सङ्कल्प है। अतः ६ वर्ष तो ऐसा सोचे ही नहीं। ये सब ऊर्मियाँ उठती हैं। शुभ कार्यों में विघ्न आते हैं। इन्हें सहन करना चाहिये। आरम्भ किये कार्य को उत्तम पुरुष छोडते नहीं।"

मैं लेखन-कार्य को छोड तो नहीं रहा था। काष्ठ मौन रहकर भी दो वर्ष देखा, वह चलता नहीं, उसमें दम्भ ही अधिक बढता है। दूसरे लोग समझते हैं—"महाराज काष्ठ मौन हैं।" किन्तु मुझमें कैसे-कैसे संकल्प विकल्प उठते हैं, उन्हें मैं ही जानता हूँ। कोई अत्यन्त प्रेमी आ जाते हैं, उनसे मिलने को चित्त व्याकुल हो जाता है। लोग भाँति-भाँति के व्यङ्ग करते हैं। उनसे मुझे क्षोभ हो जाता है।

मेरे मन में सच्चा वैराग्य होता, तब तो दूसरों से सम्मति लेने की आवश्यकता ही नहीं थी। मेरी दुर्बलता थी, जिसका समर्थन इन सभी अपने हितैषियों के मुख से सुनकर मैंने बाहर जाने का विचार छोड दिया। काशी जाना तो तय हो था, वहाँ से मोटर भी आ गयी थी। [1]प्रयागराज की अयोध्या, मथुरा, माया

---

१—पुर्या सप्त प्रसिद्धा प्रति वचन करीस्तीर्थराजस्य नार्यो। नैकट्ये नाति दूरा प्रभवति च गुणै वाशते ब्रह्म यस्याम्। सैष राज्ञी प्रधाना प्रियवचनकरी मुक्तिदाने नियुक्ता। ये ब्रह्माण्ड मध्ये स जयति सुतरा स्तीर्थराज प्रयाग ॥ ( प्रयाग-शताध्यायी )।

काशी, काञ्ची, अवन्तिका, पुरी और द्वारावती - ये सात रानियाँ हैं। काशी इनके अत्यन्त निकट होने से इनकी प्रधान पटरानी हैं। पिता आतपत्र अक्षयवट की छाया छोड़कर मैं माता की गोद में जा रहा था। पिता ने कहा "अपनी बड़ी माता से पूछ लो।" काशी गया, माँ ने अत्यन्त प्यार किया। और कहा—"बेटा! अभी पिता के ही पास लौट जाओ।" रात्रि में मैं उसी मोटर से लौट आया। आशा थी, चतुर्थी के दिन त्रिवेणी स्नान न मिलेगा, किन्तु चतुर्थी को फिर मैंने अपने को त्रिवेणी जी में गोता लगाते पाया। इस पर मुझे एक कहानी याद आ गयी। कहानी के बिना भूमिका पूरी कैसे हो?

मथुरा जी के विश्राम घाट से नीचे और बंगाली घाट से ऊपर एक घाट है, जिस पर एक कदम्ब का वृक्ष है। उस घाट पर चार चौबे आते और भाँग बूटी छानकर इधर-उधर की बातें करते थे। उनके पास एक नौका थी। वे कभी-कभी उस नौका में बैठकर भी भाँग घोंटते थे। नौका एक रज्जु से कदम्ब के वृक्ष में बँधी रहती थी। एक दिन नौका में बैठकर भाँग घोंटते ही-घोंटते एक चौबे ने कहा—"भैया! हमारी तो इच्छा होती है कि प्रयाग राज चलकर त्रिवेणी स्नान करें।"

दूसरे ने कहा—"हाँ, भाई, चलें तो सही, पर कैसे चलें! रेल में तो बड़ी भीड़ होती है; फिर उसमें भाँग-बूटी छानने का अवसर भी नहीं मिलता।"

तीसरे कहा—"सबसे अच्छा तो यही है कि इस नौका से ही चले चलें। एक थक जाय दूसरा खेवेगा; दूसरा थक जाय, तीसरा खेवेगा। इच्छानुसार चाहे जहाँ खड़ी कर ली, भाँग बूटी छान ली; निवट आये, फिर चल दिये। मार्ग में बहुत से गाँव पड़ेंगे। दूध मांग लाये, रबड़ी बना ली। इससे भाँग की खुश्की

दूर हो जायगी।' हर्रे लगे न फिटकिरी, रङ्ग चोखा ही चोखा।'

इसका सबने समर्थन किया। सर्वसम्मति से निर्णय हुआ कि आज ही चला जाय। आज कुछ गहरी छने, जिस से नौका खेने में श्रम न हो। विजया भवानी बनकर तैयार हुई, मंत्र पढ़ा गया

"दाऊ दयाल ब्रज के राजा। भाँग पीवे तो यहाँ आ जा॥
जाने न खाई भाँग की गली। वा छोरा तें छोरी भली॥'
विजया ऐसी छानियो, जसे गाढ़ी कीच।
घर के समझें मर गये, आप नशे के बीच॥
सवेरे फेर छनेगी जी।

इस प्रकार कई बार मंत्र पढ़कर गाढ़ी कीच के समान सबने एक एक लोटा चढ़ाई। चढ़ाकर निपटने गये। रबड़ी के चार कुल्लड़ भी ले लिये, तब तक आँखों में लाल डोरे भी आ गये। सब ने कहा—"हाँ, भैया! तो अब चलो।" चारों नौका में बैठ गये। वे नशे में कदम्ब में बंधी रज्जु को खोलना भूल ही गये। अब एक महाशय खेने लगे नाव। शेष तीनों झूमते रहे। खेते-खेते जब वे थक गये, दूसरे आय, तीसरे आय, चौथे आये। वे अपने मन से ही सोचते जाते थे, अब गोकुल का घाट आया, अब हम महावन आये। अब ब्रह्माण्ड घाट आया, अब दाऊजी का घाट आ गया, अब रेणुका घाट आया, अब आगरा पहुँच गये। तब तक अरुणोदय हो गया, लोग यमुना-स्नान के लिये आने लगे। कुछ परिचितों को देखकर उन्हें सन्देह हुआ। घर के लोग भी आ गय। उन्होंने पूछा—"तुम लोग यहाँ कसे आ गये? किस सवारी से आये?" ऐसे प्रश्न सुनकर लोगों को संदेह हुआ। एक ने कहा—"तुम लोग यह ढोंग क्या चला रहे हो, रात्रि में कुछ अधिक मात्रा में चढ़ा ली थी क्या?"

उनमें से एक बोला—"अजी, हम तो प्रयागराज जा रहे हैं, आधे तो पहुँच गये हैं, आधे सायंकाल तक पहुँच जायँगे।"

तब वे अपनी हँसी रोककर बोले—"अरे, पहुँच कैसे जाओगे भैया! इस कदम्ब में बँधी रस्सी को तो तुमने खोला ही नहीं। इसे जब तक न खोलोगे, तब तक कितने भी हाथ-पैर फट-फटाओ यहाँ से तुम आगे बढ़ ही नहीं सकते।" अब उन्हें अपनी भूल मालूम हुई।

हम भी चार ही आदमी द्वारका जा रहे थे। तीन-चार महीने से मैं हाथ फट-फटा रहा था, बड़े-बड़े मनसूबे बाँध रहा था। उसका परिणाम कुछ नहीं। जहाँ-का तहाँ ही हूँ। इसे मेरा मोह कहा जाय, राग कहा जाय; त्याग-वैराग्य की न्यूनता कही जाय, पुस्तक-प्रकाशन की आसक्ति कही जाय, असुविधाओं की भीति कही जाय, इसका मैं तो निर्णय कर नहीं सका, पाठक ही अपनी ओर से निर्णय करें। अब ऐसा निश्चय किया है कि त्रिवेणी स्नान करके आऊँगा, अपनी कुटी में चला जाऊँगा, कथा के समय लगभग तीन-चार बजे निकलूँगा, तब किसी से मिलूँगा, फिर कीर्तन करके कुटी में घुस जाऊँगा। इसमें कभी-कभी महापुरुषों का, भगवान् का, अपचार हो जाता है; जय-विजय काकभुसुण्डि, इन्द्रद्युम्न आदि की भाँति अपराध हो जाता है; किन्तु करूँ क्या, वे ही तो सब करवा रहे हैं, उन्हीं का तो काम करना है। किसी का अपमान करने का, किसी को कष्ट देने का भाव तो है ही नहीं। अतः हे सबके अन्तर्यामी प्रभु! आप मेरी परीक्षा लेने मत आवें। परीक्षा में तो अनुत्तीर्ण मैं रखा ही हूँ। ऐसे किसी विशेष रूप में आप आवें, तो मेरे अन्तःकरण में प्रेरणा कर दें। मैं बाहर आकर आपका स्वागत-सत्कार करूँगा। अब देखें, प्रभु मुझे कब तक यहाँ रखते हैं, कब तक मुझसे कुछ

लिखाते हैं । अभी तो आधा लिखने को पड़ा है । पहले तो ५०। ६० खण्डों में ही इसे समाप्त करने का विचार था । फिर १०८ की प्रेरणा हुई । अब होता क्या है, वे ही जानें । मेरा जो पतन हुआ है, हो रहा है, वह मेरे प्रमाद से, मेरी असावधानी से, त्याग-वैराग्य की न्यूनता से, किन्तु उसका दायित्व वे अपने ऊपर ले लेंगे तो मैं उनके फलों से विमुक्त हो जाऊँगा ।

अच्छा, तो प्रणाम !

छप्पय

*कहुँ राखो रासेश ! चाहिँ कछु काज कराओ ।*
*भेजो पुर बैकुण्ठ, नरक महँ चाहिँ पठाओ ॥*
*तीरथराज प्रयाग बसाओ, मगध भगाओ ।*
*खुदवाओ या घास, चाहिँ निज चरित लिखाओ ॥*
*जहाँ रखो जैसे रखो, भलो कहे जग वा हँसै ।*
*रसना गुन गावै कथा, कान सुनें, हिय छवि बसै ॥*

सङ्कीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
( प्रयाग )
वैशाख शु० श्री जानकी नवमी
२००७ वि०

तुम्हारा जैसा भी कुछ है वैसा,,
प्रभुदत्त

# विश्वामित्र-चरित

[ ७४५ ]

गाधेरभून्महातेजाः समिद्ध इव पावकः ।
तपसा क्षात्रमुत्सृज्य यो लेभे ब्रह्मवर्चसम् ॥*
(श्री भा० ६ स्कं० १६ अ० २८ श्लो०)

छप्पय

*सत्यवती की मातु ब्रह्ममन्त्रनि चरु खायो ।*
*तातैं द्विज-गुन-युक्त परम ज्ञानी सुत जायो ॥*
*ते ई विश्वामित्र, करयो जिन तप अति दुष्कर ।*
*विघ्ननि-सिर धरि पैर भये क्षत्रिय तैं द्विजवर ॥*
*विश्वामित्र वशिष्ठ महँ, लाग-डाँट अतिशय भई ।*
*कामधेनु-हित उभय-बिच, गुरुथम-गाथा ह्वै गई ॥*

अध्यवसायी, सच्ची लगन वाले व्यक्ति के लिये संसार में असंभव कुछ नहीं। जो अपने संकल्प में दृढ़ है, जो किसी से डरता नहीं, विपत्तियों से घबराता नहीं, विघ्नों के आने पर निराशा-निरुत्साह नहीं होता, कार्य सिद्ध न होने पर हताश नहीं होता, जो अपने कार्य की पूर्ति तक प्रयत्न से पराङ्मुख नहीं होता;

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाराज गाधि के परम तेजस्वी विश्वामित्रजी उत्पन्न हुए, जिनका तेज प्रज्वलित अग्नि के समान था, जो अपने तपोबल से क्षत्रियपन त्यागकर ब्राह्मण बन गये।"

सफलता उसकी चेरी बन जाती है, विजय उसके पैरों में आकर लोटती है। वह कभी पराभव को प्राप्त नहीं होता। उद्योगी-पुरुष-सिंह को ही विजय श्री वरण करती है।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! अब मैं गाधि नन्दन भगवान् विश्वामित्र का चरित आप से कहता हूँ। महाराज गाधि की पुत्री, महर्षि ऋचीक की पत्नी, सत्यवती ने अपनी माता के आग्रह से मन्त्रों से अभिमन्त्रित अपना ब्रह्मतेजोमय चरु तो अपनी माता को दे दिया और माता का क्षात्र-तेज-युक्त चरु स्वयं खा लिया। इससे उसके पौत्र तो परशुरामजी क्षत्रिय-स्वभाव वाले क्रूरकर्मा हुए, अब आप उनकी माता का वृत्तान्त सुनिये।"

अपनी पुत्री का चरु खाकर गाधि-पत्नी ने गर्भ धारण किया। नियत समय पर उसके अग्नि के समान जाज्वल्यमान परम तेजस्वी एक पुत्र हुआ। पिता ने उसका नाम रखा विश्वामित्र। राजकुमार विश्वामित्र शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान माता-पिता तथा अन्य सभी जनों को सुख देते हुए बढ़ने लगे। कुछ काल में जब वे वयस्क हो गये, तब पिता ने विधिवत् उनका राज्याभिषेक किया। राजा होकर विश्वामित्रजी बहुत समय तक धर्म पूर्वक पृथ्वी का पालन करते रहे।

एक बार उन्होंने चतुरङ्गिणी सेना एकत्रित करके दिग्विजय करने के लिये प्रस्थान किया। वे पृथ्वी पर यत्र-तत्र भ्रमण करने लगे। भ्रमण करते-करते वे महर्षि वशिष्ठजी के आश्रम पर पहुँचे। भगवान् वशिष्ठ का आश्रम ब्राह्मी सम्पदा से सम्पन्न था। उसमें स्थान-स्थान पर देवताओं के पीठ बने थे। तीनों प्रकार की अग्नियाँ कुण्डों मे प्रज्वलित हो रही थीं। फल-फूलों के वृक्षों—लताओं से उसकी शोभा अनुपम हो रही थी। बहुत सी लताओं के वृहद् वितानों के नीचे बैठे हुए मृग-शावक जुगाली कर रहे

थे। सिद्ध, चारण, देव, दानव, गन्धर्व, किन्नर, आदि देव-उपदेव वहाँ निरन्तर आते-जाते रहते थे। कन्द, मूल, फल खाने वाले; यम, नियम, आसन, प्राणायाम, आदि का अभ्यास करने वाले; शान्त-दान्त तपस्वी उस आश्रम में अधिकता से निवास करते थे। कोई उनमें फलाहारी थे, कोई जलाहारी, तो कोई वायुपेयी और कोई सूखे पत्ते चबाकर ही जीवन-निर्वाह करते थे। यहाँ तक कि उस आश्रम के पशु-पत्ती भी स्वाभाविक वैर त्यागकर परस्पर प्रेम से रहते थे।

उस उत्तम आश्रम को देखकर राजा विश्वामित्र परम प्रमुदित हुए। उन्होंने महर्षि वशिष्ठजी के पाद-पद्मों में श्रद्धा-सहित प्रणाम किया। अपने आश्रम पर गाधितनय विश्वामित्र को आये देखकर ब्रह्म-पुत्र वशिष्ठजी अत्यन्त ही हर्षित हुए। कन्द, मूल, फूल, तथा स्वादिष्ट फल राजा को देकर उन्होंने उनका स्वागत-सत्कार किया, शास्त्रीय विधि से उन्हें अर्घ्य दिया।

मुनि ने राजा के राज्य, कोष, परिवार मंत्री, आदि का कुशल पूछा। राजा ने भी मुनि के वृक्षों, मृग आदि आश्रम के पशुओं, अग्नियों, तपस्वियों तथा अन्य समस्त आश्रम-वासियों का कुशल पूछा। तदन्तर हँसते हुए ब्रह्म-पुत्र वशिष्ठ ने कहा—"राजन्! संसार में और वस्तुएँ तो सुलभता से प्राप्त हो सकती हैं, किन्तु उत्तम अतिथि की प्राप्ति बड़े सौभाग्य से होती है। वे ही आश्रम धन्य हैं, जिनमें अतिथियों का निरन्तर स्वागत-सत्कार होता है और जहाँ श्रेष्ठ-श्रेष्ठ पुरुष आतिथ्य ग्रहण करते हैं। आज मैं बड़ा ही आनन्दित हुआ कि आप-जैसे अतिथि मुझे प्राप्त हुए।"

विश्वामित्र ने कहा—"भगवन्! मैं तो आपका सेवक हूँ। आपके दर्शनार्थ इधर चला आया। अब मुझे जाने की आज्ञा मिलनी चाहिये।"

वशिष्ठजी ने कहा—"नहीं राजन ! मेरी इच्छा है कि मैं आपके समस्त साथियों और सैनिकों-समेत, आपका समुचित स्वागत-सत्कार करूँ ।"

नम्रता पूर्वक राजा विश्वामित्र बोले—"भगवन् ! आप कैसी बात कर रहे हैं ? हम क्षत्रिय तो आपकी चरण धूल के सदृश भी नहीं। फिर भी आपने हमारा इतना सत्कार किया। आपके आश्रम के फल-फूल, मूल और जल अत्यन्त स्वादिष्ट हैं। सबसे अधिक सुखकर तो हमें विनय से सने आपके मधुर वचन लगे। इन सब वस्तुओं से हम परम सत्कृत हुए। आप इसी प्रकार मेरे ऊपर कृपा बनाये रखें। हम आपकी अनुग्रह के अत्यन्त ही आभारी हैं ।"

वशिष्ठजी ने शिष्टता प्रकट करते हुए कहा—"राजन् ! आप तो भगवान् के अंशावतार हैं। आठों लोकपाल राजा के शरीर में निवास करते हैं। आपका तथा आपके सभी साथियों का आपकी योग्यता के अनुरूप ही स्वागत-सत्कार करना चाहता हूँ। आप मेरा आतिथ्य स्वीकार करें।"

विश्वामित्रजी ने विनम्रता के साथ कहा—"भगवन् ! स्वीकार करने की क्या बात ? हम तो सदा आपका ही दिया खाते हैं। यहाँ खाये तो, नगर में खायें तो। मैं सोच रहा हूँ, मेरे साथ बहुत बडी सेना है। महात्माओं को अधिक कष्ट देना उचित नहीं। यहाँ आश्रम में इतना सामान जुटाने में तपस्वियों को कष्ट होगा।"

वशिष्ठजी ने कहा—"राजन् ! आप इसकी चिन्ता न करें। अतिथि-सेवा में कभी कष्ट नहीं होता। फिर आप-जैसे अतिथि ! इससे तो और अधिक प्रसन्नता ही होती है। आप तनिक भी संकोच न करें।"

विश्वामित्रजी ने कहा—"महाराज ! आप सर्व समर्थ हैं । मैं क्या कहूँ ? जैसी इच्छा हो, करें । आपकी आज्ञा का उल्लंघन तो मैं कर ही नहीं सकता ।" फिर तो वशिष्ठजी को बड़ी प्रसन्नता हुई । उन्होंने अपनी कामधेनु को बुलाकर कहा—"हे शवले ! तुम मेरे अत्यन्त श्रेष्ठ अतिथि विश्वामित्र का, उनके समस्त साथियों सहित, उत्तम रीति से, स्वागत-सत्कार करो । ऐसा कोई भी पदार्थ पृथ्वी पर शेष न रहे, जो खिलाया जा सकता हो और यहाँ न हो ।"

यह सुनकर कामधेनु की पुत्री नन्दिनी ने समस्त खाद्य पदार्थों की सृष्टि की । भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य, पेय तथा चवर्ण करने के जितने खट्टे, मीठे, चरपरे, सोंधे, नमकीन तथा तिक्त खाने के षट-रस पदार्थ थे, उन सबकी सृष्टि शवला ने की । कामधेनु की कृपा से वहाँ गरमागरम भात के पहाड़ लग गये, जिन से धुंआ निकल रहा था । दाल के कड़ाह भरे रखे थे । कढ़ी, खीर, तथा संयात ( मोहन भोग ) कुण्डों में भरे थे । दूध-दही की नदियाँ बह रही थीं । लड्डू, पेड़े, जलेबी, बरफी, खुरमे, इमरती, रसगुल्ले, गुलाबजामुन, कलाकन्द, गोले, पिस्ते की कत-रियाँ, लवंगलता, गुंजियाँ, मठरी, त्रिकोड़, सकलपारे, समोसे तथा और भी नाना प्रकार के मीठे-नमकीन पदार्थों के वहाँ ढेर लगे थे । बड़े-बड़े थालों में परसकर देवाङ्गनायें सब को खिला रही थीं । विश्वामित्रजी मुनि के इस स्वागत-सत्कार से बड़े सन्तुष्ट हुए । सैनिकों ने भर पेट भोजन किया, पीने योग्य पदार्थों का पान करके तृप्त हो गये । राजा के साथियों में से एक भी ऐसा नहीं था, जिसकी मनोकामना पूर्ण न हुई हो । जिसने जिस वस्तु का संकल्प किया, उसे वही वस्तु तत्काल ही बिना माँगे मिल

गई। राजा विश्वामित्र मुनि की इस सिद्धि पर और कामधेनु के इस सामर्थ्य पर मुग्ध हो रहे थे।

जब सब लोग खा-पीकर विश्राम कर चुके, तब विश्वामित्र वशिष्ठजी के समीप गये और बोले—"ब्रह्मन ! आपने मेरा बहुत ही सुन्दर सत्कार किया। मेरे सभी साथी आपके स्वागत सत्कार से सन्तुष्ट हुए। अब जो मैं कहता हूँ, उसे आप सुनें। इस कामधेनु को मुझे दे दें।"

नम्र, किन्तु तीव्र शब्दों में मुनि ने कहा—"मैं इसे किसी को नहीं दे सकता राजन् !"

विश्वामित्र ने सरलता से पूछा—"क्यों महाराज ?"

मुनि ने कहा—"इसलिये कि इसी से मेरे समस्त इहलौकिक तथा पारलौकिक कार्य होते हैं।"

राजा ने कहा—"इसके लिये मैं आप को सुन्दर-सुन्दर सहस्र गौएँ दे दूँगा।"

मुनि ने कहा—"उन्हें आप अपने ही पास रखें, वे मुझे नहीं चाहिये।"

राजा बोले—"एक करोड गौएँ मैं आपको दे दूँगा। सभी सुन्दर व्याई हुई दुधार, सोने की सींगो से मढ़ी।"

मुनि ने दृढ़ता के साथ कहा—"मैंने कह दिया, मुझे एक कामधेनु चाहिये, सहस्र-करोड़ और गौएँ नहीं।"

राजा बोले—"ब्रह्मन् ! मैं गौओं के साथ आपको सुवर्ण के मढ़े रथ भी दूँगा। अच्छी जाति के घोड़े भी दूँगा; आप इस गौ को मुझे दे दें।"

मुनि ने कहा—"राजन् ! मुझे सेना तो इकट्ठी करनी नहीं है, किसी पर चढ़ाई करनी नहीं है। मैं रथ-घोड़े लेकर क्या करूँगा। मेरी तो यही कामधेनु बनी रहे !"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन ! यह तो रत्न है, इसका अधिकारी मैं हूँ। आप प्रसन्नता से इसे न देंगे, तो मैं बलपूर्वक ही ले जाऊँगा।"

मुनि ने अत्यन्त दृढ़ता से कहा—"आप मुझसे चाहे एक बार कहला लें, या लाख बार, बात एक ही कह दी। मैं आपको स्वेच्छा से इस गौ को नहीं दूँगा, नहीं दूँगा। आप इसे छीन ले जाना चाहें, तो छीन ले जायँ।"

राजा ने सूखी हँसी हँसकर क्रोध के स्वर में कहा—"मैं आपका अभिप्राय समझ गया। आप अपने स्वयं से हाँ न कहेंगे। अच्छी बात है, मैं आपके बिना कहे ही इसे लिये जाता हूँ।" यह कहकर उन्होंने सेवकों को गौ ले चलने की आज्ञा दी। बहुत से सैनिकों ने बलपूर्वक गौ को खोल लिया और वे बछड़े-सहित गौ को ले चले—मुनि ने उनके काम में हस्तक्षेप नहीं किया। गौ अत्यन्त कातर हो डकरा रही थी; मानों मुनि से कह रही थी—"आपने मेरा परित्याग किस अपराध पर कर दिया है ?"

मुनि का कंठ भरा हुआ था, बोले—"शबले ! मैंने स्वेच्छा से तुम्हारा त्याग नहीं किया है। ये राजा हैं, समर्थ हैं, बलपूर्वक तुम्हें लिये जाते हैं। मैं क्षमाशील ब्राह्मण हूँ, क्या कर सकता हूँ ? यदि तुम अपनी रक्षा स्वयं कर सकती हो, तो करो।"

मुनि वशिष्ठ का संकेत पाते ही गौ ने अपने समस्त अंगो से पल्हव, यवन, काम्बोज, शक, म्लेच्छ, हारीत और किरात जाति के अनार्य सैनिकों की सृष्टि की। उनमें और विश्वामित्रजी के सैनिकों में भीषण युद्ध होने लगा। विश्वामित्र की सेना परास्त हुई। उनके पुत्रों ने भगवान् वशिष्ट के ऊपर चढ़ाई कर दी। इस पर वशिष्ठजी ने 'हुं' शब्द करके उन सबको भस्म कर दिया। इससे विश्वामित्र जी को बड़ा वैराग्य उत्पन्न हुआ। राज-पाट

अपने पुत्र को सौंपकर वे तपस्या करने वन को चले गये। उनका तप बदला लेने के लिये सकाम था। उन्होंने देव-देव महादेव का आराधना की। कुछ ही काल में आशुतोष भगवान् भूतनाथ विश्वामित्रजी की तपस्या से प्रसन्न होकर उनके सम्मुख प्रकट हुए और उनसे वर माँगने को कहा।

विश्वामित्र ने पशुपति के पाद-पद्मों में प्रणाम करते हुए प्रार्थना की—"प्रभो! यदि आप इस अकिंचन पर प्रसन्न हैं, तो मुझे समस्त दिव्य अस्त्र-शस्त्र स्वय ही आ जायँ।"

भगवान् भोलानाथ ने कहा—"अच्छी बात है, ऐसा ही होगा।" इतना कहकर वे अन्तर्धान हो गये। अब तो विश्वामित्र जी अपने को अजेय समझकर भगवान् वशिष्ठ के आश्रम पर गये। वहाँ जाकर वे अस्त्र-अस्त्रों की वर्षा करने लगे और आश्रम को नष्ट-भ्रष्ट। आश्रम के ऋषि-मुनि, जीव-जन्तु—सब निकलकर भाग चले। तब क्रुद्ध होकर भगवान् वशिष्ठजी ने अपना ब्रह्म दण्ड उठाया। उससे उन्होंने विश्वामित्रजी के समस्त अस्त्र-शस्त्र व्यर्थ बना दिये। वे अपना-सा मुँह लेकर, पराजित होकर, वहाँ से भागे। भागते हुए उन्होंने कहा—"क्षात्रबल को धिक्कार है। ब्रह्म-बल ही प्रधान बल है। एक ब्रह्मदण्ड ने मेरे समस्त अस्त्र-शस्त्रों को व्यर्थ बना दिया। इन सब बातों से, मैं हताश न होकर, अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ हूँ। अब, मैं स्वयं तपस्या के द्वारा, इस ब्रह्म-बल को प्राप्त करके, इसी शरीर से, ब्राह्मण बनूँगा। अब मेरा समस्त प्रयत्न ब्रह्मतेज प्राप्त करने के निमित्त ही होगा।" यह कहकर वे वन मे ब्राह्मणत्व-प्राप्ति के लिये घोर तप करने चले गये। उनकी रानी भी उनके साथ थीं। वे गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए ही तपस्या करते थे। वन मे उनके हविष्यन्द, मधुस्यन्द, दृढ़-नेत्र और महारथ-ये पुत्र उत्पन्न

हुए। फिर उन्होंने सोचा—"अरे, वन में आकर भी मैं काम-लोभ के वशीभूत हो गया ? अब मैं रानी से पृथक् रहकर घोर तप करूँगा। अब किसी की ओर नहीं देखूँगा, किसी से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखूँगा। निरन्तर यम-नियमों के दृढ़ पालन में रत रहूँगा।" यह सोच, वे दूसरे दिन फल-मूल खाकर, तप करने लगे। फिर उन्होंने फल खाना भी छोड़ दिया, केवल पत्तों का ही आहार कर रहने लगे। बहुत दिनों तक हरे पत्ते खाने के बाद उसमें भी उन्हें हिंसा दिखाई दी। वे सूखे पत्तों पर ही रहने लगे। कुछ काल बाद वे केवल जल के सहारे, फिर वायु पीकर ही, समय बिताने लगे। उनका शरीर कृश हो गया, किन्तु फिर भी उन्होंने शरीर की ओर ध्यान ही न दिया। वे सोचते थे—संसार में तप ही मुख्य है, तप के प्रभाव से ही ब्रह्मा ने ब्रह्मत्व-प्राप्त किया है, इन्द्र तीनों लोकों के राजा बने हैं। मैं भी तप के प्रभाव से क्षत्रिय से ब्राह्मण बन जाऊँगा। ब्रह्म-पुत्र वशिष्ठ को दिखा दूँगा कि मैंने अपने पुरुषार्थ से विप्रत्व प्राप्त कर लिया है। वशिष्ठ से ही मैंने अपने को ब्रह्मर्षि न कहला लिया, तो मेरा नाम विश्वामित्र नहीं।" इन्हीं विचारों से उत्साहित होकर, वे बिना विघ्नों का विचार किये, घोर तप में निमग्न हो गये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! विश्वामित्र जी की तपस्या में ईर्ष्या, उत्कर्ष की भावना और राजस अहङ्कार था। किन्तु, तपस्या परम उत्कृष्ट थी। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर लोकपितामह ब्रह्माजी उनके समीप आये, बोले—"राजन्! मैं तुम्हारी तपस्या से अत्यन्त ही सन्तुष्ट हूँ। इस तपस्या के प्रभाव से तुम्हें राजर्षियों के लोक प्राप्त होंगे। आज से लोग तुम्हें राजर्षि कहा करेंगे। ऐसा वरदान देकर भगवान् कमलयोनि तुरन्त वहीं अन्तर्धान हो गये।

ब्रह्माजी की बात सुनकर विश्वामित्र जी को बडी लज्जा आई उन्होंने सोचा—"हाय, मैंने ब्रह्मर्षि बनने के लिये कैसी घोर तपस्या की। मुझे आशा थी कि मैं इस तपस्या के प्रभाव से अवश्य ही ब्रह्मर्षि बन जाऊँगा, किन्तु भगवान् ब्रह्मा तो मुझे अभी राजर्षि ही कहते हैं। इससे सिद्ध होता है, कि मैंने जो तपस्या की है, वह ब्रह्मर्षि-पद प्राप्त करने को पर्याप्त नहीं है। अब मैं घोरतर तपस्या करके ब्रह्मर्षि-पद प्राप्त करूँगा।" यह सोचकर वे निर्जन वन में एकान्त स्थान में फिर घोर तप करने लगे।

विश्वामित्र जी वन में बैठे तपस्या कर रहे थे, कि उन्हे रुदन की अत्यन्त आर्त्त वाणी सुनाई दी। रुदन सुनकर राजर्षि विश्वामित्र के हृदय में करुणा का सचार हुआ। उन्होंने ऑख खोलकर देखा, तो अयोध्या के महाराज त्रिबन्धन के पुत्र त्रिशकु रो रहे है, मुनि ने पूछा—"राजपुत्र! तुम क्यो रो रहे हो? तुम्हे कोन सी व्यथा है। चाहे जो हो, मैं तुम्हारे दुःख को दूर करूँगा।"

राजा ने कहा—"भगवन्! मैं गुरु के शाप से चाडाल हो गया हूँ। सशरीर स्वर्ग जाने की इच्छा से एक बडा भारी यज्ञ करना चाहता हूँ। इसके लिये मै अपने कुलगुरु भगवान् वशिष्ठ के पास गया, उनके सौ पुत्रों के पास गया। उन्होंने मेरा यज्ञ कराना स्वीकार नहीं किया, उल्टे शाप देकर मुझे चाडाल बना दिया। अब मैं आपकी शरण में आया हूँ।"

अपने प्रतिद्वन्दी को नीचा दिखाने के लिये विश्वामित्र जी की ईर्ष्या जाग उठी। उन्होंने साहस के साथ कहा—"राजन्! कोई बात नहीं, चिन्ता मत करो। वशिष्ठ को जाने दो। मैं तुम्हारा यज्ञ कराऊँगा, मैं तुम्हें सशरीर स्वर्ग पठाऊँगा। मैं तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करूँगा। तुम मेरी तपस्या का प्रभाव तो देखो! यज्ञ की सामग्री जुटाओ।" यह सुनकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने

यज्ञ की सामग्री जुटाई। विश्वामित्र जी ने यज्ञ में वशिष्ठ जी के पुत्रों को बुलाया। उन सब ने कह दिया—"जिस यज्ञ का यजमान चांडाल हो, आचार्य क्षत्रिय हो, उस यज्ञ में हम नहीं जा सकते।"

यह सुनकर विश्वामित्र जी के क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। क्रोध में भरकर, हाथ में जल लेकर, उन्होंने उन्हें शाप दिया—"ये वशिष्ठ के सभी पुत्र अभी भस्म हो जायँ और दूसरे जन्मों में कुत्ते का मांस खाने वाले चांडाल हों।" उन्हें ऐसा शाप देकर, जो मुनि नहीं आये, उन्हें भी उन्होंने शाप दे दिया। शेष मुनि डरकर उनके यज्ञ में आये। यज्ञ हुआ! विश्वामित्र जी ने जैसे-तैसे अपनी तपस्या का बल लगाकर त्रिशंकु को सशरीर स्वर्ग पठाया। देवताओं ने उसे नीचे ढकेल दिया। अब तो तप के अभिमान में अन्धे हुए मुनि ने दूसरे स्वर्ग की रचना करनी आरंभ कर दी। देवता घबराये, बीच-बिचाव हुआ त्रिशंकु न स्वर्ग गया, न पृथ्वी पर ही गिरा। वह अधर में अभी तक मुख नीचा किये लटक रहा है।

अब तक विश्वामित्र जी ने जो तपस्या की थी, वह क्रोध करके, शाप देकर, हठ करके, सब समाप्त कर दी। लेखा बराबर हो गया। पूँजी निकल जाने पर मुनि की आँखें खुलीं। वे बोले—"अरे, मैंने तो क्रोध में भरकर अपना इतने दिनों का किया तप नष्ट कर डाला। काम, क्रोध और लोभ—ये ही तपस्या के बड़े शत्रु हैं। अब मैं क्रोध न करूँगा।" ऐसा निश्चय करके वे पुनः नवीन उत्साह के साथ तपस्या में प्रवृत्त हुए। उन्होंने पहिले दक्षिण दिशा में तपस्या की थी, तब त्रिशंकु के झंझट के कारण उनकी तपस्या में विघ्न पड़ा, अतः वे उस दिशा को छोड़ कर पश्चिम दिशा में तप करने पुष्कर क्षेत्र में चले गये। वहाँ

उन्होंने अपने भांनजे शुनःशेप का उद्वार किया। इसके कारण भी उनके तप मे विघ्न हुआ। फिर भी आकर वे पुष्कर में हजारों वर्षो तक तप करते रहे। उनके तप से सन्तुष्ट होकर ब्रह्माजी पुनः आये और उन्हे ऋषि की उपाधि दी।

मुनिवर विश्वामित्र इससे भी सन्तुष्ट नहीं हुए। वे तो ब्रह्मर्षि बनना चाहते थे। अतः वे पुनः घोर तप में निमग्न हो गये। मुनि का आश्रम सुन्दर वृक्षों और सघन लताओं से घिरा हुआ अत्यन्त ही सुन्दर था। वह पुष्कर कुण्ड के निकट ही था। एक दिन मुनि पुष्कर मे स्नान कर रहे थे। वहीं पर उन्होंने स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी अप्सरा मेनका को देखा। वह अपने अंगो में दिव्य अंगराग लगाये हुए थी। उसके शरीर से कमल की सुगन्ध निरन्तर निकल रही थी। वह अत्यन्त ही महीन नीले रंग की रेशमी साड़ी पहने हुए थी। उसके काले-काले घुँघराले बालों में स्वर्गीय पुष्पों की माला गुँथी हुई थी, जिन पर मधुलोलुप भ्रमर मँडरा रहे थे, जिसकी सुगन्धि योजनो जा रही थी। उसके शरीर तथा पारिजात के पुष्पों की सुगन्धि से मुनि का चित्त उसकी ओर आकृष्ट हुआ। नीली साड़ी में से उसका सुवर्ण के समान शरीर विद्युत की भाँति चमक रहा था। उनकी दृष्टि उस पर जो गई, सो गड़ी की गड़ी ही रह गयी। अब मुनि सन्ध्या-वन्धन करना सब भूल गये। मंत्र कुछ पढ़ते किया कुछ और करते। कभी आचमन करते, कभी जल उलीचते। किन्तु, दृष्टि उस सुर-सुन्दरी के शरीर पर लगी हुई थी। उसने परम पावन पुष्कर तीर्थ में स्नान किया। स्नान करने से उसकी साड़ी उसके अङ्ग मे सटकर चिपट गई। अब उसके सभी अङ्ग स्पष्ट दिखाई देने लगे। वह बार-बार व्रीड़ा की भाव दिखाती हुई हृद् से बाहर निकली, वह शरीर से चिपके वस्त्र को बार-बार छुड़ाती

और वायु उसे फर-फर उड़ा देती। उस समय उसका सौन्दर्य बड़ा ही भला मालूम होता था। जैसे-तैसे उसने वस्त्र बदले। स्नान करने से उसका अङ्गराग और भी अधिक सुगन्धि देने

लगा। उसने वस्त्र पहनकर संकोच के साथ मुनि के चरणों में प्रणाम किया। मुनि तो यह चाहते ही थे। वे निहाल हो गये। उन्होंने अत्यन्त ही स्नेह प्रकट करते हुए कहा—"सुर-सुन्दरि! तुम कहाँ जा रही हो?"

लजाते हुए हाथ जोड़कर सिर नीचा करके, मेनका ने कहा—"भगवन् मैं इस परम-पावन पुण्य तीर्थ पुष्कर में स्नान करने ही आई थी।"

विश्वामित्र जी ने कहा—"तुम कहाँ जाओगी ?"

मेनका ने कहा—"महाराज ! अब जहाँ भी भाग्य ले जाय।"

मुनि बोले—"समीप ही मेरा आश्रम है, तुम चलना चाहो, तो आज चलकर मेरा आतिथ्य ग्रहण करो ?"

मेनका अप्सरा ने कहा—"मेरा बडा सौभाग्य है, जो भगवान् ने मुझे अपने आश्रम मे चलने के लिये आमन्त्रित किया।"

मुनि यह सुनकर प्रसन्नता पूर्वक उसे अपने आश्रम पर ले गये। अब तो मुनि भजन पूजन, पूजा-पाठ-सब कुछ भूल गये। अच्युत के ध्यान मे मग्न न होकर वे अप्सरा के ध्यान मे मग्न रहने लगे। वह बार-बार जाने की आज्ञा माँगती, मुनि उससे और कुछ दिन रहने को कहते। वह तो देवताओं की सिखाई-पढाई इसी काम के लिये आई ही थी। मुनियो ! तपस्वी को तपस्या में देवता अवश्य ही विघ्न करते हैं, पहले वे साधारण कामिनियों को भेजते हैं। तपस्वी उनके जाल मे फँस गया, तो ठीक है। यदि उनसे वह निकल गया, तो स्वर्गीय अप्सराओं को भेजते हैं। यह सौन्दर्य ऐसा जाल है कि इसमे प्रायः सभी प्राणी अन्धे होकर फँस जाते हैं। मुनि विश्वामित्र को मेनका के साथ रहते हुए दश वर्ष व्यतीत हो गये। ये दश वर्ष उन्हें दश पल के समान भी प्रतीत न हुए। एक दिन उन्हे स्वय ही चेत हुआ—"अरे, मैं ब्राह्मण बनने के लिये तप कर रहा था। मुझे तो इस कामिनी रूपी माया ने फँसा लिया। यह काले मूड की माया मेरे पीछे कहाँ से लग गई ? यह सब देवताओ की करतूत है।"

मेनका ने जब देखा कि मुनि अब प्रकृतिस्थ हुए हैं, मुझे शाप देकर भस्म कर देंगे, तब तो वह थर-थर काँपने लगी। मुनि ने

उसे निर्भय करते हुए कहा—"देवि ! तुम डरो नहीं, तुम्हारा कुछ दोप नहीं है। दोप तो मेरा ही था। मैं तो स्वयं ही तुम्हें ले आया। तुम सुख पूर्वक जहाँ चाहो जा सकती हो।"

यह सुनकर मेनका के प्राणों में प्राण आये। वह तुरन्त मुनि को प्रणाम करके स्वर्ग जाने लगी। वह गर्भवती थी, उसके एक कन्या हुई, जिसे जङ्गल में छोड़कर वह चली गई, उसका पालन भगवान् कण्व ऋषि ने किया। जो बड़ी होने पर चक्रवर्ती महाराज दुष्यन्त की पत्नी हुई, जिसे विश्व विजयी सम्राट महाराज भरत की जननी होने का दुर्लभ पद प्राप्त हुआ। उसका वृत्तान्त महाराज दुष्यन्त के प्रसङ्ग में किया जायगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब विश्वामित्र जी ने पश्चिम दिशा को भी छोड़ दिया। अब वे परम-पावन उत्तर दिशा में जाकर कौशिकी नदी के तट पर रहकर, उग्र तप करने लगे।

उनकी तपस्या से भयभीत होकर देवगण लोक पितामह ब्रह्माजी के पास गये और बोले—"भगवन् ! महामुनि विश्वामित्र बड़ा उग्र तप कर रहे हैं, उन्हें आप महर्पि का पद दे दें।"

ब्रह्माजी ने कहा—"हाँ, सोच तो मैं भी यही रहा हूँ। अच्छा मैं जाता हूँ विश्वामित्र के पास।"

लोक पितामह ब्रह्माजी, हंस पर चढ़कर विश्वामित्र जी के समीप आये और बोले—"मुनिवर ! तुम्हारी तपस्या बहुत उत्तम है, मैं तुम्हें महर्पि की उपाधि देता हूँ।"

यह सुनकर विश्वामित्र ने हाथ जोड़कर कहा—"भगवन् ! मेरा अहोभाग्य, जो आपने दर्शन दिये ! ब्रह्मन् ! मैं तो ब्रह्मर्पि बनने को तप कर रहा था। अभी आप मुझे ब्रह्मर्पि न कहकर महर्पि ही कह रहे हैं। इससे मैं समझता हूँ, मैं अभी इन्द्रियजीत नहीं हो पाया हूँ।"

तब ब्रह्माजी ने कहा—"हाँ विश्वामित्र जी ! अभी तक आप की इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं। देखिये, मौन, व्रत, तपस्या, वेदाध्ययन, स्वधर्म-पालन, जप, व्याख्या, एकान्त वास, शास्त्र-श्रवण, समाधि ये सब उपाय मुक्ति देने वाले हैं, किन्तु जिनकी इन्द्रियाँ वश में नहीं, उनके लिये ये ही सब उपाय, मुक्ति के कारण न हो कर केवल व्यापार, विषय-भोग के हेतु हो जाते हैं। अभी तुमने काम और क्रोध पर विजय प्राप्त नहीं की।"

इस पर विश्वामित्रजी बोले—"प्रभो ! अब मैं पुनः तप करके ब्रह्मत्व प्राप्त करूँगा। अब मैं वही तप करूँगा, जिससे काम के वशीभूत न हो सकूँ।"

ब्रह्माजी ने कहा—"वत्स ! तुम ऐसा ही करो। तपस्या में काम ही सबसे बड़ा शत्रु है। एकान्त में काम अत्यधिक प्रबल हो उठता है। इसलिये एकान्त में कामिनी आदि आकर अनुराग प्रदर्शित करने लगें, तो उन्हें देवताओं द्वारा उपस्थित किया विघ्न समझकर उसमें आसक्त न हो, तुम्हारा कल्याण हो।" यह कह कर ब्रह्माजी तुरन्त अन्तर्धान हो गये। विश्वामित्र जी कठोरतम तप करने लगे।

वे एक पैर के अगूठे पर अधर में ऊपर को हाथ किये खड़े रहते। भोजन उन्होंने त्याग दिया था, वायु के आधार पर ही वे रहने लगे। उन्होंने सभी इन्द्रियों का निरोध कर रखा था। वे गर्मी के दिनों में पचाग्नि तापते, जाड़ों में जल के भीतर खड़े होकर तपस्या करते और वर्षा में बाहर मैदान में खड़े होकर उसे सिर पर लेते।

इनका तप देखकर इन्द्र के मन में सन्देह होने लगा। उन्होंने सोचा—"मुनि इतना घोर तप करेंगे तब तो मेरा सिंहासन ही मुझसे छीन लेंगे। जैसे-हो-तैसे इनके तप में विघ्न डालना चाहिये।

यह सोचकर उन्होंने स्वर्ग की अत्यन्त सुन्दरी अप्सरा रम्भा को बुलाया और उससे कहा—"सुन्दरि ! तुम्हारे सौन्दर्य को देखकर बड़े-बड़े तपस्वी मोहित हो जाते हैं। तुम जैसे हो, जाकर विश्वामित्र के तप में विघ्न उपस्थित करो।"

रम्भा बोली—"देवेन्द्र ! विश्वामित्र बड़े क्रोधी ऋषि हैं। वे तो अपने क्रोध से हम सबको भस्म ही कर डालेंगे।"

रम्भा को भय से थर-थर काँपते देखकर देवराज इन्द्र बोले—"रम्भे ! तुम डरती क्यों हो ? देखो, वसन्त, कामदेव, मलयानिल ये सब तुम्हारे साथ रहेंगे। मैं स्वयं ही कोकिल बनकर आम की मञ्जरी पर बैठे कूँजूगा। डरो मत, मेरी बात मानों।"

देवराज के ऐसे आश्वासन देने पर रम्भा ने विश्वामित्र जी के समीप जाना स्वीकार किया। सर्व प्रथम वसन्त ऋतु ने अपना प्रसार किया। सर्वश्रेष्ठ सुगन्ध को लिये हुए मलयानिल बहने लगा। काम ने अपने बाण सम्हाले। आम की मञ्जरी पर इन्द्र कोकिल बनकर कुहू-कुहू- शब्द करते हुए कूँजने लगे। रम्भा वहाँ हाव-भाव कटाक्ष करती हुई सुन्दर नृत्य करने लगी। कोकिल की कूँज और नूपुरों की सुमधुर ध्वनि सुनकर मुनि का मन मत्त होकर नृत्य करने लगा। आखें खोलकर जो उन्होंने वसन्त ऋतु को देखा, तो वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। कोकिल का मादक स्वर रम्भा का मेनका के सौन्दर्य से भी बढ़ा चढ़ा सौन्दर्य ! विश्वामित्र ये देखते ही समझ गये, यह देवताओं की माया है, मुझे तप से भ्रष्ट करने के लिये ही यह सब जाल रचा गया है।" मन में उन्होंने काम में न फँसने का दृढ़ निश्चय किया। वे काम में तो नहीं फँसे, किन्तु क्रोध में फँस गये। उन्हें रम्भा पर क्रोध आ गया।

बोले—"दुष्टे ! तू मुझे तप से भ्रष्ट करना चाहती है। यह

वशिष्ठ जी के मुख से ब्रह्मर्षि शब्द सुनते ही विश्वामित्र जी कृतार्थ हो गये। अब उन्हें ब्रह्मर्षि शब्द का महत्त्व मालूम हुआ। अब उनके समझ मे आया कि ब्राह्म-बल कितनी कठिनता से प्राप्त होता है।

दोनों ब्रह्मर्षि राग-द्वेष तथा ईर्ष्या छोड़कर अत्यन्त स्नेह से मिले। विश्वामित्र और वशिष्ठ में प्रगाढ़ मैत्री हुई। देवताओं ने उनके ऊपर पुष्प-वर्षा की। विश्वामित्रजी सप्तर्षियों में पूजित होकर अद्यावधि सप्तर्षि लोक में विद्यमान हैं। ऋषि रूप से वे पृथ्वी पर कार्य करते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार गाधि-नन्दन भगवान् विश्वामित्र इसी जन्म में क्षत्रिय से ब्राह्मण बन गये। इनके चरित्र असंख्य हैं। मैंने अत्यन्त संक्षेप में उनके क्षत्रिय से ब्राह्मण बनने का वृत्तान्त बताया। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! आपने बीच में कथा-प्रसङ्ग में कहा था, विश्वामित्र जी ने शुनःशेप का उद्धार किया। यह शुनःशेप कौन था, और इसकी गणना विश्वामित्र जी के पुत्रों में कैसे हुई ? कृपा करके इस वृत्तान्त को हमें और सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज ! मैं आपको शुनःशेप का वृत्तान्त सुनाता हूँ। उसे आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

*भयो परस्पर युद्ध गाधि-सुत रन महँ हारे।*
*ब्रह्म-तेज-हित करन तपस्या बनहिँ सिधारे ॥*
*काम क्रोध ने आइ तपस्या नष्ट कराई।*
*आई रम्भा कबहुँ, मेनका कबहुँ आई ॥*
*पुनि-पुनि आये विघ्न बहु, किन्तु निराशा नहिँ भई।*
*ह्वै प्रसन्न विधि ब्रह्म ऋषि, की पदवी तबई दई ॥*

# विश्वामित्रजी द्वारा शुनःशेप का उद्धार

[ ७४६ ]

यो रातो देवयजने देवैर्गाधिषु तापसः ।
देवरात इति ख्यातः शुनःशेपः स भार्गवः ॥*
(श्री भा० ९ स्क० १६ अ० ३२ श्लो०)

छप्पय

*मुनिवर विश्वामित्र करें तप पुष्कर माहीं।*
*शुनःशेप कूँ भूप यज्ञ-बलि-हित लै जाहीं ॥*
*मामा विश्वामित्र विनय के मंत्र सिखाये।*
*अति प्रसन्न सुर भये यज्ञ महँ प्राण बचाये ॥*
*मातु पिता ढिग पुनि नहीं, शुनः शेप कबहूँ गये।*
*गाधि-तनय सुत सम करे, भार्गव तैं कौशिक भये ॥*

शास्त्रों में पिता कई प्रकार के बताये हैं। उत्पन्न करने वाले, पालन करने वाले, विद्यादान करने वाले, तथा अभय दान देने वाले अनेक प्रकार के पिता हैं। इन सबमें प्राणों की रक्षा करने वाले सर्व श्रेष्ठ हैं। कोई मर रहा हो और उसे मृत्यु-मुख से बचा ले, जीवन दान दे दे, तो वह भी सर्वोत्तम पिता है। अपनी

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन ! देवताओं द्वारा यज्ञ में दिये जाने के कारण शुनःशेप गाधिकुल में "देवरात" नाम से विख्यात तपस्वी हुआ। वह भृगुवंशी कहलाया।"

ओर से तो मृत्यु ही आ गई थी। उन्होंने हमें मृत्यु मुख से निकाल कर पुनः जन्म दिया। अतः वह जन्मदाता से भी श्रेष्ठ पिता है। ऐसे पिता के प्रति जो कृतघ्नता प्रकट करते हैं, उनका उपकार नहीं मानते हैं, वे सबसे बड़े पापी समझे जाते हैं। इसके विपरीत जो उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं, पिता के सदृश उनका आदर करते हैं, उन्हें इस लोक मे यश और वैभव प्राप्त होता है और मरने पर उन्हें अक्षय लोकों की प्राप्ति होती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे शुनःशेप के उद्धार की कथा पूछी है। मैं उसे आपको सुनाता हूँ। प्राचीन काल में बड़े-बड़े यज्ञों में बलिदान होते थे। कलियुग के लिये यज्ञों में पशु-हिंसा का निषेध है। देवताओं की प्रसन्नता के लिये पशुओं की बलि दी जाती थी, कभी-कभी नर-बलि भी होती थी। सूर्य-वंश के परम पराक्रमी धर्मात्मा राजा हरिश्चन्द्र वरुण को प्रसन्नता के लिये अपने ही पुत्र को बलिदान करना चाहते थे। इन्द्र के कहने से राजा का पुत्र रोहित वन में चला गया। इधर जब राजा ने वरुण-यज्ञ नहीं किया, तब उन्हें शारीरिक मानसिक कष्ट हो गया। यह बात रोहित ने वन में सुनी। अब उसे एक उपाय सूझा कि अपने बदले यदि मैं किसी दूसरे पुरुष को द्रव्य देकर ले चलूँ, तो वरुण भी प्रसन्न हो जायँगे और पिताजी भी स्वस्थ हो जायँगे। खोजते-खोजते वे महर्षि अजीगर्त के समीप पहुँचे। वे निर्धन थे, धनाभाव के कारण अत्यन्त दुःखी रहते थे। उनके तीन पुत्र थे। राजपुत्र रोहित उन मुनि के पास पहुँचे और बोले—"ब्रह्मन्! मेरे एक संकट को आप दूर करें। मुझे वरुण की इष्टि करनी है। इसके लिये एक बलि-पशु चाहिये। आपके तीन पुत्र हैं, इनमें से आप

एक मुझे दे दें। मैं आपको इसके बदले में लाखों गौएँ और असंख्य-सुवर्ण-मुद्रायें दूँगा। आपका दारिद्र्य नष्ट हो जायगा। मेरा भी काम चल जायगा। आपका वंश-विच्छेद भी न होगा, क्योंकि वंश की वृद्धि के लिये कुल की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने को आपके दो पुत्र हैं ही।"

राज-पुत्र रोहित की बातें सुनकर ऋषि धर्म सङ्कट में पड़ गये। एक ओर तो धन का लोभ, दूसरी ओर पुत्र -स्नेह। फिर उन्होंने सोचा—"धनहीन होकर तो हम सबके सब दुःख पा रहे हैं। लौकिक-पारलौकिक कोई कार्य हम धन के बिना नहीं कर सकते। यदि मैं अपने पुत्रों में से एक को दे दूँ, तो सदा के लिये दरिद्रता से मेरा पिंड छूट जायगा। यज्ञ में बलि-पशु बना पुत्र अवश्य ही स्वर्ग मे जायगा।" यह सब सोचकर ऋषि बोले—"राजकुमार! आपका कथन है तो सत्य, किन्तु मुझे अपना सबसे बड़ा पुत्र अत्यन्त प्रिय है, इसे मैं किसी प्रकार आपको नहीं दे सकता।"

समीप ही माता बैठी थी, उसने कहा—"सबसे छोटा मुझे अधिक प्रिय है, इसलिये इसे मैं न दूँगी।"

माता-पिता की ऐसी बातें सुनकर ऋषि का मध्यम पुत्र शुनःशेप, जो परम विद्वान और तपस्वी था, समझ गया कि माता-पिता मुझे देना चाहते है। अतः वह बोला—"राज-पुत्र। मेरे बड़े भाई मेरे पिता के अत्यन्त प्रिय है, और मेरा छोटा भाई माता का, अब रह गया मैं। सो आप मुझे ही अपने यज्ञ की बलि के लिये ले चलें। आप मेरे माता-पिता को जो धन देना चाहें, दे दें।"

यह सुनकर राज-पुत्र अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने सहस्रों गौएँ, सुवर्ण-मुद्राएँ, और अन्यान्य भी जो वस्तुएँ मुनि ने माँगी,

वे सब उन्हें दीं। उन सब को देकर शुनःशेप को रथ में बिठाकर वह पुष्कर क्षेत्र में आया। अपने प्राण तो सभी को प्यारे होते हैं। शुनःशेप अब अपने बचने का उपाय सोचने लगा। उस ने सुना, यहाँ मेरे मामा विश्वामित्र जी तप कर रहे हैं। उन्होंने चांडाल हुए त्रिशंकु को भी अपने तपोबल से सशरीर स्वर्ग पहुँचा दिया था। वे चाहें, तो मेरी रक्षा कर सकते हैं। यह सोचकर वह विश्वामित्रजी के समीप गया और उनके सम्मुख गिर पड़ा।

दीन और दुःखी हुए शुनःशेप से दयावश विश्वामित्रजी बोले—"बच्चा! तू क्या चाहता है? तुझे क्या कष्ट है? किस लिये तू इतना दीन हो रहा है?"

शुनःशेप ने कहा—"मामाजी! मेरे माता-पिता ने मुझे त्याग दिया है। अब संसार में मेरा कोई भी नहीं है। मैं आपकी शरण आया हूँ। आप ऐसा करें, कि मेरे प्राणों की रक्षा भी हो जाय और राजा का भी कल्याण हो।"

मुनि को उस पर दया आ गई। वे अपने पुत्रों से बोले—"कोई इसके बदले बलि-पशु बनने जा सकता है?"

इस पर सब ने कहा—"पिता जी! दूसरे के पुत्र के पीछे आप हमें बलि-पशु बना रहे हैं, यह कहाँ का न्याय है? आप को ऐसी बात मन से भी न सोचनी चाहिये।"

यह सुनकर विश्वामित्रजी को क्रोध आया, किन्तु वे कुछ बोले नहीं। इस पर शुनःशेप ने कहा—"मामाजी! आप ही अपने मंत्र-बल से मेरी रक्षा करें।"

यह सुनकर विश्वामित्रजी ने कहा—"अच्छी बात है। चलो हम भी तुम्हारे साथ चलते हैं।" यह कहकर विश्वामित्रजी भी रोहित के साथ चल दिये। रोहित अत्यन्त प्रसन्न हुए। हरिश्चन्द्र ने जब सुना कि उनका पुत्र पुरुष-पशु और महर्षि

विश्वामित्रजी के साथ वन से लौट आया है, तब वे बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने मुनि का स्वागत किया। उनसे यज्ञ में सम्मिलित होने की प्रार्थना की और अन्यान्य बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों को भी बुलाया। उस यज्ञ में ब्रह्मर्षि वशिष्ठजी ने ब्रह्मा का कार्य किया था। आत्मवान् यशस्वी जमदग्नि अध्वर्यु हुए थे, अयास्य मुनि उद्गाता और महर्षि विश्वामित्र होता बनाये गये थे। विश्वामित्रजी ने शुनःशेप को दो ऐसे उत्कृष्ट मंत्र सिखला दिये थे, कि जिन्हें सुनकर देवराज इन्द्र प्रसन्न हो जायँ।

नियत समय पर लाल वस्त्र और लाल फूलों की माला पहना कर शुनःशेप को बलि-पशु के यूप में बांध दिया गया। उसने बड़े ही सुन्दर कण्ठ से विश्वामित्रजी के सिखलाये हुए मन्त्रों का देवताओं के सम्मुख गान किया। उन मंत्रों को सुनकर देवराज इन्द्र अत्यन्त ही सन्तुष्ट हुए। उन्होंने शुनःशेप से वर माँगने को कहा।

शुनःशेप ने कहा—"देवराज! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो यही वर दीजिये कि मेरा बिना बलिदान हुए ही राजा का यज्ञ साङ्गोपाङ्ग समाप्त हो जाय।" यह सुनकर सभी देवताओं ने इसका समर्थन किया। देवताओं ने उसे विश्वामित्रजी को दे दिया। इसलिये उसका नाम देवरात भी प्रसिद्ध हुआ।

विश्वामित्रजी ने कहा—"भाई, अब तुम सुखपूर्वक अपने घर जा सकते हो।"

उसने कहा—"मामाजी! मेरे माता पिता ने तो धन के लोभ से मुझे त्याग ही दिया। उनकी दृष्टि में तो मैं मर ही गया। आपने मेरे प्राणों की रक्षा की है। अतः आप ही मेरे माता-पिता तथा सर्वस्व हैं। मैं आपकी शरण में हूँ।"

उसकी इस भक्ति से विश्वामित्रजी अत्यन्त ही सन्तुष्ट हुए। उन्होंने कहा—"अच्छी बात है, तुम मेरे सर्वश्रेष्ठ पुत्र हुए।"

विश्वामित्रजी के एक सौ एक पुत्र थे। उनमें इक्यावनवें पुत्र का नाम मधुच्छन्दा था वह सबसे अधिक बुद्धिमान और यशस्वी था। अतः उसी के नाम से उनके सब पुत्र मधुच्छन्दस् कहलाते थे। मधुच्छन्दा से जो ५० बड़े थे, उनकी तो ज्येष्ठ मधुच्छन्दस् संज्ञा थी, और जो उनसे ५० छोटे थे, वे कनिष्ठ मधुच्छन्दस् कहलाते थे। विश्वामित्रजी ने सर्व प्रथम अपने ज्येष्ठ मधुच्छन्दस् पुत्रों से कहा—"देखो, यह देवरात तुम सब में श्रेष्ठ है। इसे तुम अपना बड़ा भाई करके मानो।"

उन सब ने कहा "पिताजी! यह तो आप अन्याय कर रहे हैं। अपने सगे और सपुत्रों को छोड़कर दूसरे के पुत्र को सर्वश्रेष्ठ बना रहे हैं। हम इसे कभी अपना बड़ा भाई नहीं मान सकते।"

पुत्रों द्वारा अपनी आज्ञा का उल्लंघन होते देखकर विश्वामित्र जी को बड़ा क्रोध आया। उन्होंने उन सब को शाप दे दिया—"तुम सब म्लेच्छ हो जाओ। तुमने आर्य-धर्म के विरुद्ध वर्ताव किया है, अतः तुम्हारी गणना आर्यों में न होकर आर्येतर मनुष्यों में हो।"

इस प्रकार शाप देकर, फिर वे छोटे मधुच्छन्दसों से बोले—"कहो, भाई! तुम लोग क्या कहते हो?"

मधुच्छन्दा तो बुद्धिमान था ही। उसने हाथ जोड़कर कहा—"पिताजी! पुत्रों के तो सर्वस्व पिता ही हैं। दासों का, स्त्रियों का और पुत्रों का, स्वामी तथा पिता के रहते, कुछ भी अधिकार नहीं है। ये सब पोष्य कहे गये हैं। आप हमारे जनक हैं। आप हमें जैसी आज्ञा देंगे, वैसा ही हम करेंगे

अपने छोटे पुत्रों की ऐसी युक्तियुक्त बात सुनकर विश्वामित्र जी अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने उन सबको आशीर्वाद देते हुए कहा—"तुम सबने मेरे प्रति गौरव और मेरी आज्ञा के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित की है, मेरे सम्मान की रक्षा करके मुझे यथार्थ पुत्रवान् बनाया है। इसलिये मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ, कि तुम सब पुत्रवान् हो। संसार में तुम्हारा वंश प्रसिद्ध हो। यह देवरात भी, भार्गव न रहकर, कौशिक गोत्रीय ही रहा। तुम सब इसे बड़ा मानकर इसकी आज्ञा का पालन करो।" सबने इसे स्वीकार किया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! विश्वामित्रजी के सौ तो ये ही पुत्र थे इनके अतिरिक्त अष्टक, हारीत, जय, क्रतुमान आदि बहुत से पुत्र थे। देवरात ( शुनःशेप ) की गणना विश्वामित्र जी के वरदान से कौशिक गोत्र में हो तो गई, किन्तु यह अपने गोत्र मे श्रेष्ठ हुआ। इसलिये यह प्रवर-प्रवर्त्तक माना गया। इसका प्रवर दूसरा हुआ। विश्वामित्रजी के बहुत से पुत्र जो ब्रह्मर्षि होने के पूर्व के थे, वे सब तो क्षत्रिय ही हुए। पीछे के ब्राह्मण हुए। जिन्हें शाप से म्लेच्छ कर दिया, वे शूद्र और अन्त्यज हुए। इस प्रकार कौशिक गोत्रीय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—सभी होते हैं। इस प्रकार विश्वामित्रजी की सन्तानों द्वारा कौशिक गोत्र के कई भेद हो गये। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में विश्वामित्रजी के वंश का प्रसङ्गानुसार वर्णन किया। अब बताइये, कौन सी कथा कहूँ ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! एक शङ्का हमें रह गई। यह जो आपने शुनःशेप और विश्वामित्र का वृत्तान्त सुनाया है, पुराणान्तर में यही प्रसङ्ग हमने महाराज मान्धाता के यज्ञ के सम्बन्ध में सुना है। वहाँ बताया है, महाराज मान्धाता शुनःशेप

को मोल ले गये थे। आप कहते हैं कि उन्हें हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहित ले गये थे। इसमें तो बड़ा भारी अन्तर पड़ता है। इससे प्रतीत होता है कि ये सब कपोल-कल्पित प्रसङ्ग हैं। जिसे जब जिस राजा का नाम याद आया, उसी के प्रसङ्ग में यह कथा लिख दी। नहीं तो मान्धाता और रोहित में तो कई पीढ़ियों का अन्तर है।"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाराज! कभी-कभी तो आप सर्वथा कलियुगी कुतर्कियों की सी शंका किया करते हैं। ब्रह्मन्! इस प्रवाह रूप से बहते हुए संसार सागर में कौन-सी लहर कब आई, यह किस संख्या की लहर है, इसकी गणना कौन कर सकता है? आप तो प्रति वर्ष कल्पवास करने तीर्थराज प्रयाग में जाते हैं। आपकी ही भाँति वहाँ बहुत से ऋषि-मुनि प्रति वर्ष आते हैं। सामान्यतया प्रति वर्ष मेला एक-सा ही होता है। राज्य की ओर से कल्पवासी और अधिकारियों के ठहरने का प्रबन्ध होता है। सङ्गम कभी आगे बढ़ जाता है, कभी पीछे हट जाता है। उसी के अनुसार मेले में भी हेर-फेर हो जाया करता है। प्रायः सभी श्रेणी के साधुओं के स्थान निश्चित रहते हैं। अधिकारियों के स्थान भी यथावत् रहते हैं। फिर भी प्रति वर्ष गङ्गा यमुना उस भूमि का कल्प करती हैं, उसे नूतन बनाती हैं, उसमें कुछ न-कुछ अंतर हो ही जाता है। किसी माघ में हमने प्रतिष्ठानपुर के समीप संगम में स्नान किया, द्वितीय वर्ष सङ्गम सोमेश्वर के समीप पहुँच गया, तीसरे वर्ष आदि-माधव जी के समीप, और चौथे वर्ष अक्षयवट के मूल में पहुँच गया। एक ही ऋषि ने चारों वर्ष संगम में स्नान किया। वर्णन करने वाले ने चारों ही स्थानों में ऋषि को स्नान करते देखा। जब उसके ध्यान में जहाँ का दृश्य आ गया, वर्णन कर दिया। अब दूसरा कोई कुतर्की कहे, कि इसमें तो संगति मिलती नहीं; तो यह उसकी

बुद्धि का दोप है। सङ्गम तो प्रति वर्ष क्या प्रति दिन वदलता रहता है। आज यहाँ है, तो कल वहाँ। इसी प्रकार कुछ हेर-फेर से ये घटनायें प्रत्येक कल्प में घटित होती हैं। किसी कल्प में महाराज मान्धाता ने शुनःशेप को मोल ले लिया होगा। ऋषि के मन में वर्णन करते समय वह घटना याद आ गई। किसी कल्प में रोहित ने मोल लिया होगा। इसमें असगति की कौन सी वात है ?"

शौनकजी ने हँसकर कहा—"सूतजी ! आप कल्प-भेद वाली बात कहकर ही हमें चुप कर देते हैं। सोचिये, जब आप इसी कल्प की कथा सुना रहे हैं, तो फिर सब ग्रन्थ इसी कल्प की एक सी घटना के हों।"

सूतजी बोले—"नहीं, महाराज ! यह आवश्यक नहीं। वर्णन करने वाले मुनि कोई बँधे हुए थोड़े ही हैं। जिस समय समाधि में जिस कल्प की स्मृति हो आई, उसी का वर्णन कर दिया। जैसे भिन्न भिन्न कल्पों की भिन्न-भिन्न कथाएँ हैं, वैसे ही भिन्न-भिन्न मुनियों की कल्पनाएँ भी भिन्न-भिन्न हैं। हमें इन राजर्षि और ब्रह्मर्षियों के चरित्रों से केवल शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये—सो भी अनुकूल शिक्षा। यह नहीं कि विश्वामित्र जी जैसे ऋषि मेनका के फंदे में फँस गये, तो हमें जान-बूझकर काम के वश में हो जाना चाहिये। इनसे यही शिक्षा लें कि काम बड़ा प्रबल है, साधक को पग-पग पर सावधान रहना चाहिये। फूँक फूँककर पग बढ़ाना चाहिये। विश्वामित्र जी की भाँति पुनः-पुनः विघ्न आने पर भी निराश न होना चाहिये और जब तक सिद्धि न हो, तब तक प्रबल प्रयत्न करते ही रहना चाहिये। इसलिये राजर्षि, ब्रह्मर्षि तथा भक्तों के चरित्रों में अनुकूल शिक्षा खोजनी चाहिये और भगवान् के चरित्रों को, उनकी क्रीडा समझकर, बिना तर्क के सुनकर प्रमुदित होना चाहिये।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, सूतजी! आपका कथन सत्य है। अब आप आगे की मुख्य कथा सुनायें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"आगे की मुख्य कथा कौन-सी महाराज?"

यह सुनकर हँसते हुए शौनकजी बोले—"सूतजी! आप बहुत शीघ्र भूल जाते हैं। मुख्य कथा तो अभी शेष ही रह गई। आप हमें चन्द्रवंश का वर्णन सुना रहे थे। चन्द्र के पुत्र बुध और बुध के पुत्र पुरूरवा हुए। पुरूरवा के, उर्वशी के गर्भ से आयु, श्रुतायु, सत्यायु रय, विजय और जय—ये छः पुत्र आपने बताये थे। सर्व प्रथम आपको पुरूरवा के बड़े पुत्र आयु के वंश का वर्णन नियमानुसार करना चाहिये था, सो आपने न करके 'सूची-कटाह न्याय' से श्रुतायु, सत्यायु, आदि के वंश का वर्णन किया उसी प्रसङ्ग में विजय के वंश का वर्णन करते हुए परशुराम जी और विश्वामित्र की कथा कह दी। आप मुख्य कथा पर आ जायँ-आयु के वंश का वर्णन करें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"हाँ, महाराज! कथा की झोंक में मैं तो भूल ही गया था। आपने अच्छी याद दिला दी। अब आप आयु के वंश का वर्णन सुनें।"

छप्पय

*निज सुत विश्वामित्र प्रेम तैं पास बुलाये।*
*देवरातकूँ ज्येष्ठ करो बहु विधि समुझाये॥*
*आधे माने नहीं शाप दै म्लेच्छ बनाये।*
*शेषनि करि स्वीकार मनोवांछित वर पाये॥*
*ब्राह्मण क्षत्रिय म्लेच्छ हूँ, कौशिक गोत्री ही रहे।*
*विमल चरित संक्षेप महँ, गाधि-तनय के कछु कहे॥*

---

# पुरूरवा के ज्येष्ठ सुत आयु का वंश

[ ७४७ ]

यः पुरूरवसः पुत्र आयुस्तस्याभवन् सुताः ।
नहुषः क्षत्रवृद्धश्च रजी रम्भश्च वीर्यवान् ॥
अनेना इति राजेन्द्र शृणु क्षत्रवृद्धोऽन्वयम् ।※
(श्री भा० ९ स्क० १७ अ०, १,२ श्लो०)

छप्पय

*अब पुरूरवा-पुत्र आयु की बरनों सन्तति।*
*नहुष, रम्भ, रजि और अनेना क्षत्रवृद्ध अति॥*
*वीर पाँच सुत भये पाँचहू परम यशस्वी।*
*क्षत्रवृद्ध के काशि, काशि के राष्ट्र तपस्वी॥*
*धन्वन्तरि तिनि सुत तनय, बनि हरि प्रकटित ह्वै गये।*
*कुवलयाश्व ज्ञानी नृपति, पञ्चम पीढ़ी महँ भये॥*

जब जैसे अवतार का कार्य होता है, तब भगवान् वैसा ही अवतार लेकर, ससार का उद्धार करते हैं। ससार मे आधि-व्याधि को ही दुःख का कारण बताया है। मानसिक दुःख का नाम आधि और शारीरिक दुःख का व्याधि है। आधि का नाश

※ श्री शुकदेव जी कहते है—"राजेन्द्र ! महाराज पुरूरवा के जो बडे पुत्र आयु थे, उनके नहुष, क्षत्रवृद्ध रजि, वीर्यवान् रम्भ और अनेना ये पाँच पुत्र हुए अब तुम क्षत्रवृद्ध के वंश को श्रवण करो।"

ज्ञान आदि से होता है और व्याधि का नाश औषधि आदि से। भगवान् ज्ञान का प्रसार करने कपिल आदि रूप में अवतरित होते हैं और व्याधि का नाश करने धन्वन्तरि आदि रूप में।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अब मैं आपको बुध-पुत्र, प्रतिष्ठानपुराधीश महाराज पुरूरवा के बड़े पुत्र, आयु के वंश का वृत्तान्त सुनाता हूँ। धर्मात्मा महाराज आयु के नहुष, क्षत्रवृद्ध, रजि, रम्भ और अनेना—ये पाँच पुत्र हुए। इन सब में नहुष सबसे ज्येष्ठ –श्रेष्ठ थे। राजर्षि नहुष का चरित बड़ा ही अद्‌भुत है। इसका वर्णन मैं पीछे करूँगा। पहले आप अत्यन्त संक्षेप में इनके चार छोटे भाइयों के वंश का वर्णन श्रवण कीजिये। हाँ, तो महाराज आयु के द्वितीय पुत्र, क्षत्रवृद्ध, के सुहोत्र नामक पुत्र हुए। सुहोत्र के काश्यप, कुश और गृत्समद—ये तीन पुत्र हुए। गृत्समद के पुत्र महाराज शुनक हुए और शुनक के ही पुत्र ऋग्वेदीय मुनिवर शौनक हुए। शौनक जी! ये शौनक आपसे पृथक् एक दूसरे राजर्षि हैं। आपका जन्म तो भृगुवंश में हुआ है।

महाराज सुहोत्र के प्रथम पुत्र काश्यप के काशि-नामक पुत्र हुए। इन्होंने काशी में अपनी राजधानी बनाई। महाराज काशि के राष्ट्र नामक पुत्र हुए। राष्ट्र के पुत्र दीर्घतमा हुए। ये महाराज दीर्घतमा मुनिवर दीर्घतमा से पृथक् हैं। इन दीर्घतमा के ही पुत्र आयुर्वेद के प्रवर्तक भगवान् धन्वन्तरि हुए, जिन्होंने संसार में आयुर्वेद का प्रचार किया, जो भगवान् के अंशावतार हैं, और जिनका नाम ले लेने से समस्त रोगों का नाश हो जाता है।"

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! आप पीछे बता चुके हैं, कि जब देवता और असुरों ने मिलकर समुद्र मथा था

तब भगवान् के अंशावतार भगवान धन्वन्तरि अमृत का कलश लेकर प्रकट हुए थे, जिनके हाथ से असुर अमृत-कलश छीन ले गये।" इस प्रकार पहले तो आपने धन्वन्तरि जी का प्राकट्य क्षीरसागर से बताया था। अब आप कह रहे हैं, कि ये काशिराज महाराज दीर्घतमा के पुत्र थे। यह विरोधाभास क्यों ?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज! भगवान् धन्वन्तरि तो नित्य हैं। उनका तो प्रादुर्भाव—तिरोभाव होता रहता है। एक बार वे समुद्र से भी प्रकट होकर तिरोहित हो गये थे। पुनः वे काशिराज के यहाँ राजा-रूप में अवतीर्ण हुए। आपने सुश्रुत-संहिता आदि का विस्तार किया। पृथ्वी पर आपने आयुर्वेद शास्त्र का प्रचार किया। पहले वैद्यों को यज्ञ में भाग नहीं दिया जाता था, किन्तु इन भगवान् ने अवतार लेकर यज्ञ का भाग ग्रहण किया। इनके नाम-संकीर्तन से ही समस्त रोगों का नाश हो जाता है। भगवान् धन्वन्तरि ने यह सिद्धान्त प्रचारित किया, कि संसार में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं, जो औषधि न हो। संसार की सभी वस्तुएँ औषधि हैं। केवल उनके गुणों को जानकर प्रयोग करने वाला ही दुर्लभ है। हरीतिकी पहले भी थी, किन्तु लोग उसके गुणों से परिचित नहीं थे। भगवान् धन्वन्तरि जी ने बताया कि हरीतिकी सदा पथ्य है। रसायन है।

एक बार संसार में यह झूठी बात किसी ने फैला दी, कि भगवान् धन्वन्तरि इस पृथ्वी को छोड़कर चले गये। सभी लोग इस समाचार को सुनकर रोने लगे। सबको रोते देखकर हरीतिकी (हरड़) ने बड़े गर्व से कहा—"धन्वन्तरि जी पृथ्वी को छोड़कर चले गये, तो कोई बात नहीं। जो हो गया, सो हो गया। आप लोग चिन्ता न करें।"

लोगों ने कहा—"संसार में नित्य ही नई-नई व्याधियाँ होती हैं, उनका नाश कौन करेगा ?"

हरीतिकी ने कहा—"जब तक मैं पृथ्वी पर हूँ, तब तक तुम्हें चिन्ता करने की कोई बात नहीं। मैं सभी रोगों का नाश करूँगी।" हरीतिकी की ऐसी बात सुनकर एक ऋषि, राजर्षि धन्वन्तरि के समीप गये, और बोले—"महाराज हरीतिकी तो बड़े गर्व से कहती है, कि उसका प्रयोग सभी रोगों में युक्ति से हो सकता है। वह सब रोगों को नाश करने में समर्थ है।"

धन्वन्तरि जी ने कहा—"अच्छा, तुम जाकर उससे पूछो कि कच्चे ज्वर में तुम्हारा क्या उपयोग हो सकता है।"

ऋषि ने जाकर हरीतिकी से यही बात पूछी—"तुम कहती हो कि मैं सब रोगों को नाश करने में समर्थ हूँ, तो बताओ कच्चे ज्वर में तुम्हारा क्या उपयोग है ?"

यह सुनकर हरीतिकी खिलखिलाकर हँस पड़ी और बोली—"यह बात मिथ्या है, कि धन्वन्तरि जी इस पृथ्वी का परित्याग कर गये। वे इस पृथ्वी पर ही विद्यमान हैं।"

ऋषि ने पूछा—"यह बात तुमने कैसे जानी ?"

हरीतिकी ने कहा—"यह बात धन्वन्तरि जी के अतिरिक्त कोई जानता ही नहीं, कि कच्चे ज्वर में मेरा कोई उपयोग नहीं उनसे सुनकर ही आप कह रहे हैं।" मुनि यह सुनकर हँस पड़े और उन्होंने हरीतिकी की बात का समर्थन किया।

इस प्रकार धन्वन्तरि जी के महत्त्व को चर-अचर सभी प्रकार के प्राणी जानते थे। बड़े-बड़े उनसे आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त करने आते थे। इन भगवान् का अवतार कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी (धनतेरस) को हुआ था। आज तक इस त्रयोदशी को धन्वन्तरि जयन्ती मनाई जाती है। इन के पुत्र केतुवान हुए।

केतुवान के पुत्र भीमरथ हुए। भीमरथ के पुत्र दिवोदास हुए। दिवोदास के पुत्र द्युतमान् हुए, जो प्रतर्दन कहलाये, उन्हीं शत्रुजित् के पुत्र ऋतध्वज कुवलयाश्व इस नाम से भी प्रसिद्ध हैं।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! महाराज शत्रुजित द्युमान् के पुत्र ऋतध्वज का नाम कुवलयाश्व क्यों पड़ा ? कृपा करके हमें इसका कारण बताइये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज ! शत्रुजित् पुत्र ऋतध्वज बड़े ही, धर्मात्मा और ब्राह्मण-भक्त थे। जब ये कुमार ही थे, तब महर्षि गालव ने एक घोड़ा लाकर दिया था, उस का नाम 'कुवलय' था, जो समस्त पृथ्वी-मण्डल का परिक्रमा कर आता था। उसी पर सवार होने से धर्मात्मा महाराज ऋतध्वज का नाम कुवलयाश्व पड़ा। इनका बड़ा ही आश्चर्य-जनक मनोरञ्जक चरित है ऐसा अद्‌भुत चरित शायद ही किसी राजा का होगा। इनकी धर्म पत्नी का नाम मदालसा था, जो बड़ी ही ब्रह्मवादिनी तथा ज्ञान पारङ्गता थीं। उनका चरित भी अलौकिक है।"

यह सुनकर अत्यन्त उत्सुकता प्रकट करते हुए शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! हम राजर्षि कुवलयाश्व का सम्पूर्ण चरित सुनना चाहते हैं। महर्षि गालव ने उन्हें कुवलय नामक अश्व क्यों दिया ? मुनि के पास ऐसा अद्‌भुत घोड़ा कहाँ से आया, जो कुछ ही देर में सम्पूर्ण पृथ्वी की परिक्रमा कर सके ? महाराज की महारानी मदालसा किसकी पुत्री थी ? उनका चरित अद्‌भुत किस प्रकार है ? इन सभी वृत्तान्तों को हमें सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज ! अब में महाराज ऋतध्वज अथवा कुवलयाश्व की चरित सुनाता हूँ, उसे आप सावधानी से श्रवण करें।"

छप्पय

भूप शत्रुजित् बत्स ऋतध्वज शूर वीर अति।
पालहिँ पितु-सम प्रजा धर्म महँ रखहिँ सदा मति॥
गालव दीन्हों अश्व पवन-मन तें द्रुतगामी।
ता पै चढ़ि पताल केतु मारयो खलनामी॥
कुवलयाश्व की कृपा तैं, नृप पताल तल महँ गये।
विश्वावसु तनया तहाँ, मिली पाइ प्रमुदित भये॥

# महाराज ऋतध्वज या कुवलयाश्व

[ ७४८ ]

स एव शत्रुजिद् वत्स ऋतध्वज इतीरितः।
तथा कुवलयाश्वेति प्रोक्तोऽलर्कादयस्ततः॥ *
(श्री भा० ६ स्क० १७ अ० ६ श्लो०)

## छप्पय

*सँग मदालसा लई ऋतध्वज पितु-पुर आये।*
*जननी-पितु अति सुघर बहू लखि अँग न समाये॥*
*अति प्रगाढ़तर प्रेम परस्पर कुवरि-कुँवर महँ।*
*जन-रक्षा हित गये अश्व चढ़ि नृप-सुत वन महँ॥*
*तालकेतु पाताल को, बन्धु-कपट तैं बन्यो मुनि।*
*छल मदालसा तैं करयो, मरी प्राणपति मृत्यु सुनि॥*

प्राणी प्रेम के आधार पर ही जीवित है। प्रेम के बिना जीवन नहीं, रस नहीं, स्फूर्ति नहीं। प्राणियों का परिष्कृत पुण्यपथ प्रेम ही है। यह सम्भव है, प्राणी जल, वायु के बिना भले ही जीवित रह सके, किन्तु प्रेम के बिना जीवन असम्भव है। जो जितना ही महान तथा उत्तम होगा उसका प्रेम भी उतना ही विशाल और

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन! द्युमान् का ही नाम शत्रुजित् था। उसका पुत्र ऋतध्वज के नाम से विख्यात था, जिसका दूसरा नाम कुवलयाश्व भी था। उसके अलर्क आदि कई पुत्र हुए।"

विस्तृत होगा। बहुतों को धन से ही प्रेम होता है। धन के लिये वे तन को कुछ नहीं समझते। बहुतों को प्राणों से प्रेम होता है। प्राण रक्षा के लिये वे बड़ा-से-बड़ा पाप कर सकते हैं। बहुतों को धर्म से प्रेम होता है। धर्म के लिये वे हँसते-हँसते प्रसन्नता पूर्वक प्राणों का परित्याग कर सकते हैं। बहुतों को माता, पिता, गुरु, भाई, पत्नी, इष्टमित्र तथा अन्य किसी सगे-सम्बन्धी से इतना प्रेम हो जाता है कि उनके वियोग में वे प्राणों को रख नहीं सकते। जो इस अनित्य देह को, कुछ न समझकर, प्रियतम के निमित्त, प्राणों का परित्याग करते हैं, वे संसार में यशस्वी होते हैं। जीवन तो उन्हीं का सार्थक है। नहीं तो, इस देह में मोह करके, इसे आहार से पुष्ट करते हुए; कौआ, कूकर, सूकर आदि जीव भी अनेक वर्ष तक जीवित रहते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे महाराज ऋतध्वज का नाम कुवलयाश्व क्यों पड़ा? यह प्रश्न किया था। उसे मैं आपको सुनाता हूँ। "महाराज द्युमान् प्रतर्दन और शत्रुजित् इन नामों से संसार में प्रसिद्ध थे। यथार्थ में उन्होंने सभी शत्रुओं को अपने प्रभाव से जीत लिया था। इसीलिये उनका शत्रुजित् नाम सार्थक था। उन्होंने बड़े भारी-भारी यज्ञ किये थे, विविध भाँति के उत्तम-उत्तम दान दिये थे। संसार में उनका ऐश्वर्य अपार था। वे देवराज इन्द्र की भाँति पृथ्वी पर ही सभी सुखों का उपभोग करते थे। उनके यहाँ अन्न, पान, मणि माणिक्य, वाहन, वस्त्र, आभूषण आदि किसी भी वस्तु की कमी नहीं थी। महाराज के एक परम-विनयी, शूरवीर, विद्वान् प्रियदर्शन और चरितवान सुन्दर पुत्र भी था, जिसका नाम ऋतध्वज था। वह बुद्धि में बृहस्पति के समान, पराक्रम में देवराज इन्द्र के और सुन्दरता में अश्विनी कुमारों और कामदेव के समान था। वह ऐश्वर्य में कुबेर

के समान, दृढ़ता में यम के समान, सत्य में धर्म के समान और प्रियता मे चन्द्रमा के समान था। ऐसे पुत्र को पाकर पृथ्वीपति शत्रुजित् सदा अपने सौभाग्य की प्रशंसा किया करते थे। राजकुमार की सहृदयता, सहनशीलता, मृदुलता, सर्वप्रियता, कार्यकुशलता, गुणग्राहकता, आदि सद्गुणों के कारण समस्त प्रजा के आबालवृद्ध नर-नारी उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे। राजकुमार सबसे अत्यन्त स्नेह से मिलते और क्षण भर में ही बात करने वाले से आत्मीयता स्थापित कर लेते।"

एक दिन महाराज सभा में सचिवों से घिरे हुए बैठे थे। राजकुमार ऋतध्वज भी उनके समीप ही विराजमान थे, कि उसी समय द्वारपाल ने आकर कहा—"पृथ्वीनाथ! द्वार पर महर्षि गालव एक बड़ा सुन्दर घोड़ा लिये हुए खड़े हैं। वे आपसे मिलना चाहते हैं।"

महर्षि गालव का आगमन सुनकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुए, किन्तु उन्हें यह सुनकर कुतूहल हुआ कि मुनि अपने साथ घोड़ा क्यों लाये हैं। तुरन्त ही राजा, मन्त्री, पुरोहित तथा राजकुमार को लेकर गालव ऋषि के स्वागत के लिये चले। द्वार पर आकर उन्होंने विधिवत् महर्षि की पूजा की और उनका कुशल पूछा। मुनि ने भी राजा के समस्त परिवार और आश्रितों का कुशल पूछा। तत्पश्चात् राजा मुनि को अश्व सहित भीतर ले गये। अश्व तो राज-सभा के सम्मुख बाँध दिया गया और मुनि स्वर्ण सिंहासन पर बैठे। राजा, राजकुमार तथा सभी उपस्थित व्यक्ति बड़ी उत्सुकता से अश्व की ओर निहार रहे थे। वे उस अद्भुत अश्व के सम्बन्ध में कुछ जानना चाहते थे।

सबको उत्सुक देखकर राजा ने मुनि से पूछा—"ब्रह्मन्! यह इतना सुन्दर अश्व आपको कहाँ मिला? आप इसे साथ लिये

क्यों घूम रहे हैं ? इस अश्व के सम्बन्ध का कोई विशेष इतिहास हो, तो उसे जानने को हम सब अत्यन्त उत्सुक हैं।"

मुनि ने कहा—"हाँ राजन! यह अश्व साधारण नहीं है। इसका इतिहास भी बड़ा विचित्र है।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! यदि हमसे छिपाने योग्य न हो तो कृपया इसका इतिहास हमें अवश्य सुनाइये।"

महर्षि गालव बोले—"राजन! आपसे क्या छिपाना है। आपको सुनाने तो मैं आया ही हूँ। बात यह है, कि मैं अपने एकान्त आश्रम में, मौन रखकर, फलाहार करके, तपस्या करता हूँ, किन्तु एक दैत्य आकर मेरे तप में विघ्न करता है।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! वह दैत्य कौन है और वह आप के तप में किस प्रकार का विघ्न करता है ?"

मुनि गालव ने कहा—"नरपति! उस दुष्ट दैत्य का नाम है पातालकेतु। वह पाताल में रहता है, नित्य ही पातालविवर से निकल कर, मेरे आश्रम में आता है। वह कामरूपी दैत्य कभी हाथी, कभी सिंह, कभी सूकर, कभी बाघ और कभी अन्य हिंस्र-जन्तु का वेश बना लेता है। वह आकर मेरे आश्रम को नष्ट करता और आश्रम-वासियों को दुःख देता है।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन! आप इतने बड़े तपस्वी हैं, आपके सामने यह नीच दैत्य ऐसी अशिष्टता क्यों करता है ? आप एक हुङ्कार मार दें, तो भस्म हो जाय।"

मुनि बोले—"राजन्! आपका कथन सत्य है। मैं शाप देकर उसे भस्म कर सकता हूँ, किन्तु शाप देने से तप नष्ट होता है। इसलिये मैं उसे शाप देना नहीं चाहता। बड़े कष्ट से उपार्जित की हुई तपस्या का अपव्यय करना उचित नहीं।"

राजा ने पूछा—"तब ब्रह्मन्! आप मुझसे क्या चाहते हैं ?

मुनि बोले—"हाँ, राजन् ! यही तो मैं आपको सुनाना चाहता हूँ। एक दिन की बात है, मैं अपने आश्रम में बैठा था। उस असुर के अत्याचारों से मेरा अन्तःकरण बड़ा ही खिन्न हो रहा था उसी समय अकस्मात् आकाश से यह अश्व उतरा और मेरे आश्रम के समीप खड़ा हो गया। पहले तो मैंने समझा यह दुष्ट पातालकेतु ही अश्व का रूप बनाकर आया है। किन्तु, कुछ ही काल में आकाशवाणी हुई—'गालव !, तुम चिन्ता न करो। यह अद्भुत अश्व भगवान् आदित्य ने तुम्हारे पास भेजा है। इसकी गति अव्याहत होगी। यह आकाश-पाताल में सर्वत्र जा सकता है। यह बिना थके समस्त भूमण्डल की परिक्रमा कर सकता है। यह समुद्र के जल पर चल सकता है, पर्वतों पर चढ़ सकता है। संसार में इसका नाम कुवलय प्रसिद्ध होगा। इस पर चढ़कर महाराज शत्रुजित् के पुत्र ऋतध्वज इस दुष्ट पातालकेतु का वध करेंगे, जो तुम्हें नित्य क्लेश देता है। इस अश्व पर चढने के कारण राजकुमार का नाम भी कुवलयाश्व प्रसिद्ध होगा।' सो राजन् ! उस आकाशवाणी को सुनकर, और इस अश्व को लेकर मैं आपके समीप आया हूँ। आप नरपति हैं दुखियों के दुखों को दूर करने वाले हैं। आर्तों को क्षत से त्राण करना ही क्षत्रियों का परम धर्म है। आप मेरी रक्षा करें, राजकुमार ऋतध्वज को मेरे साथ भेज दें।"

राजकुमार ऋतध्वज बड़ी उत्सुकता से उस अश्व को देख रहे थे। उसके शरीर की सुन्दर गठन और स्फूर्ति देखकर उनके मन में अश्व को प्राप्त करने का लोभ हो रहा था। वे अश्वारोहण-विद्या में बड़े निपुण थे। मुनि के मुख से आकाशवाणी की बात सुनकर उन्हें अत्यन्त ही हर्ष हुआ। वे उस घोड़े पर चढ़ने को अत्यधिक उत्सुक हो उठे। मुनि तथा महाराज राजकुमार की

उत्सुकता को समझ रहे थे। अतः राजा ने मुनि से कहा—"ब्रह्मन् ! ऋतध्वज आपका ही है। आपके साथ जाने से इसका कल्याण ही होगा। आप इसे प्रसन्नता पूर्वक अपने आश्रम में ले जायँ। अभी यह निरा बालक ही है। आप इसकी देख-रेख रखें। यह अधिक चंचलता न करने पाये।"

मुनि ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"राजन् ! आप किसी बात की चिन्ता न करें। कुमार बड़े विनयी हैं। मैं सब प्रकार इनकी रक्षा करूँगा।"

यह सुनकर राजा ने कुमार को मुनि के साथ जाने की आज्ञा दी अपनी आन्तरिक प्रसन्नता को छिपाते हुए, सिर झुकाकर कुमार ने पिता की आज्ञा शिरोधार्य की। पिता ने पुत्र का स्वस्त्ययन किया और ब्राह्मणों के वेद-घोष के साथ उस अश्वरत्न की पीठ पर कुमार को चढ़ाया। उस अश्व पर चढ़े हुए राजकुमार ऐसे लगते थे, मानों साक्षात् वीर-रस मनोवेग नामक अश्व पर चढ़कर जा रहे हों। उसी दिन से राजकुमार ऋतध्वज का नाम कुवलयाश्व पड़ गया। यह मैंने ऋतध्वज के 'कुवलयाश्व' नाम पड़ने की कथा सुना दी। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?

शौनक जी ने कहा—"सूतजी ! आप हमें कुमार कुवलयाश्व का सम्पूर्ण चरित सुनावें। उन्होंने पातालकेतु दैत्य को मारा या नहीं ? उनका विवाह हुआ या नहीं ? उनकी कितनी सन्तानें हुईं ? ये सभी बातें हमें बतावें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज ! कुमार कुवलयाश्व की कथा बड़ी और अत्यन्त ही करुणा पूर्ण है। उसे मैं संक्षेप में ही सुनाता हूँ।"

हाँ, तो कुमार ऋतध्वज को लेकर महामुनि गालव अपने आश्रम पर आये। कुमार सुख पूर्वक आश्रम में रहने लगे। उस

दुष्ट दैत्य को इस बात का पता नहीं था कि कुमार कुवलयाश्व मेरा वध करने के लिये मुनि के आश्रम में ही ठहरे हुए हैं। मुनि जब सन्ध्या-वन्दन में तल्लीन थे, तब उसी समय उन्हें क्लेश पहुँचाने को वह काम रूप दैत्य, सूकर का रूप रखकर, मुनि के समीप आया। उसे देखते ही मुनि के सभी शिष्य एक साथ ही चिल्ला उठे—"राजकुमार! देखो, देखो, वह असुर, सूअर बना हुआ, मुनि के ऊपर प्रहार करने जा रहा है। राजकुमार ऋतध्वज ने भी उस वाराह रूपधारी दैत्य को देख लिया था, अतः वे तुरन्त धनुष पर बाण चढ़ाकर उस अश्व पर चढ़कर उसके पीछे दौड़े। धनुष बाण ताने हुए घोड़े पर चढ़े राजकुमार को अपनी ही ओर आते देखकर वह वाराह वेषधारी असुर बड़े वेग से भागा। कुमार ने एक अर्द्ध चन्द्राकार बाण उसको मारा। बाण से आहत होकर वह अपने प्राणों की रक्षा के लिये वायु के समान भागा। किन्तु अश्वारोही कुमार उसे छोड़ने वाले कब थे। वे भी शर सन्धाने उसके पीछे भागते ही गये। सूकर बने दैत्य ने जब देखा कि राजकुमार के हाथों से मैं बच नहीं सकता, इनके अश्व के समान तेज मैं दौड़ नहीं सकता, तब एक बड़े भारी अन्धकार पूर्ण पाताल-विवर में वह कूद गया। उसके कूदते ही अश्वारोही राजकुमार भी उस भयङ्कर गड्ढे में कूद पड़ा, क्योंकि उसके अश्व की गति तो अव्याहत थी। वह समान रूप से सर्वत्र जा सकता था।

उस घोर अन्धकार पूर्ण विवर में जाने से कुमार को कुछ भी दिखाई नहीं देता था। वह सूअर तो अदृश्य ही हो गया। कुछ काल में उन्हें अत्यन्त प्रकाशमयी पाताल नगरी दिखाई दी। मणियों के प्रकाश से वह जगमग-जगमग कर रही थी। वह स्वर्ग की अमरावती पुरी से भी अधिक चित्ताकर्षक और सुन्दर दिखाई

देती थी। उस अद्भुत पुरी को देखकर कुमार को अत्यन्त कुतूहल हुआ। उन्हें भय तो था ही नहीं, वे पाताल पुरी के अनुपम दृश्यों को निर्निमेष दृष्टि से निहारने लगे। उसी समय उन्हें एक अत्यन्त ही सुन्दरी स्त्री उधर से जाती दिखाई दी। कुमार उसके समीप गये और बोले—"सुन्दरि! तुम कौन हो? किसकी पुत्री हो? किसकी पत्नी हो? इतनी उत्सुकता के साथ तुम कहाँ जा रही हो? मुझे अपना परिचय दो।"

कुमार की बात सुनकर भी उस स्त्री ने उन्हें कुछ भी उत्तर नहीं दिया। कुमार को एक बार कुटिल दृष्टि से निहार कर, मुस्कुराती हुई, वह महल के भीतर घुस गई। कुमार इस रहस्य को कुछ भी न समझ सके। वे शीघ्रता पूर्वक घोड़े को बाहर ही बाँधकर अपनी उत्सुकता मिटाने के लिये, उस स्त्री के पीछे-पीछे महल में घुस गये।

भीतर जाकर कुमार ने जो कुछ देखा, उसे देखकर उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। उस सजे-सजाये महल में एक सुन्दर सुवर्ण का पलङ्ग बिछा हुआ है। उसके ऊपर अत्यन्त ही कोमल गद्दे-बिछे हुए हैं। वे दुग्ध के फेन की भाँति स्वच्छ धवल वस्त्र से ढँके हैं। पलङ्ग पर अत्यन्त ही मृदु छोटे बड़े उपधान (तकिये) रखे हुए हैं। उसके ऊपर एक अत्यन्त ही सुन्दरी रमणी बैठी हुई है। उसके काले-काले घुँघराले बाल अस्त-व्यस्त भाव से मुख पर बिखरे हुए हैं। नीलकमल के समान बड़े-बड़े सुन्दर आकर्षक उसके नेत्र हैं। बन्धूक पुष्प की कलिका के समान उसके पतले-पतले मृदु-अरुणवर्ण के ओष्ठ हैं। चन्द्रमा की चाँदनी के समान स्वच्छ उसके दन्त हैं। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग से सुन्दरता फूट-फूटकर निकल रही थी। वह सर्वाङ्ग सुन्दरी रमणी ललाम लवङ्ग-लता के समान हिल रही थी। राजकुँवर ने आज तक इतनी

सुन्दरी कोई नारी निहारी ही नहीं थी। वे कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि ब्रह्मा की सृष्टि में ऐसी सुन्दरी स्त्री भी हो सकती है। उन्होंने समझा, यह कोई पाताल की अधिष्ठात्री देवी है। वे शील सङ्कोच श्रद्धा तथा लज्जा के सहित सिर झुकाकर उसके सन्मुख खड़े हो गये।"

साक्षात् कामदेव के समान, मूर्तिमान वीर रस के समान, प्रत्यक्ष मनोरथ के समान, उस सुन्दर सलोने सुकुमार कुमार को

निहार कर वह सर्वाङ्ग-सुन्दरी रमणी मूर्च्छित होकर धड़ाम से पलङ्ग पर गिर पड़ी। उसकी ऐसी दशा देखकर आने वाली उस

दूसरी स्त्री ने उसका सिर अपनी गोद में रखा। कई औषधियाँ सुँघाई और शनैः शनैः उसके सिर को दबाती हुई पङ्खा झलने लगी। कुमार उस सुकुमारी के सौन्दर्य को देखकर अपने आप को भूले हुए थे। वे निर्णय ही न कर सके कि मुझे क्या करना चाहिये। समीप ही एक चौकी पर बैठ गये। कुछ काल में उस सुन्दरी की मूर्छा भङ्ग हुई। तब कुमार ने अत्यन्त ही सङ्कोच के स्वर में कहा—"देवि ! मैं आपका परिचय प्राप्त करना चाहता हूँ। आप अभी इस प्रकार मूर्छित क्यों हो गई थीं ?"

राजकुमार के ऐसे प्रश्न को सुनकर सुन्दरी लज्जित हुई। उसने एक रहस्य-भरी दृष्टि से अपनी परिचारिका सखी की ओर देखा।

उसके अभिप्राय को समझ कर सखी ने कहना आरम्भ किया—"राजकुमार ! आपने गन्धर्वों के राजा विश्वावसु का नाम तो सुना ही होगा। यह सुकुमारी राजकुमारी उन्हीं गन्धर्वराज की प्राणों से भी प्यारी पुत्री है। इसका नाम मदालसा है। एक तो गन्धर्व वैसे ही समस्त उपदेवों से सुन्दर होते हैं, तिसपर यह कुमारी समस्त गन्धर्व कन्याओं से सुन्दरी थी। इसके सौंदर्य की ख्याति स्वर्ग तक फैल गयी। इसकी सुन्दरता ही इसके बन्धन का कारण हुई।"

आश्चर्य के साथ राजकुमार ने पूछा—"सो कैसे ?"

सुन्दरी की सखी बोली—"सुनिये, यह बात भी मैं कहती हूँ। आप तो जानते ही हैं, सुमेरु पर रहने वाले गन्धर्व कितने सौंदर्य प्रिय और विलासी होते हैं। उन्हें गाने-बजाने, घूमने और वनों में विचरण करने का व्यसन-सा होता है। गन्धर्वराज विश्वावसु का एक बहुत ही सुन्दर बगीचा है। उसमें सभी प्रकार के सुन्दर-सुन्दर पुष्पों के वृक्ष हैं। वह दूसरे नन्दन-

कानन के समान ही सुन्दर है। उसी में यह एक दिन विचरण कर रही थी। उसी समय वज्रकेतु दानव का पुत्र पातालकेतु वहाँ आया। वह मदालसा के सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर इस पर आसक्त हो गया था। वह इसी घात मे रहता था। एकान्त मे मदालसा को पाकर वह मायावी परम प्रसन्न हुआ। उसने भयकर माया फैलाकर राजकुमारी मदालसा का अपहरण किया और अपने निवास स्थान पाताल मे लाकर इसे यहाँ रख दिया है।

उस दुष्ट ने इससे विवाह का प्रस्ताव किया, किन्तु इसने स्वीकार नहीं किया। आप ही सोचिये, कहाँ तो वह भयङ्कर रूपधारी कामचारी दुष्ट दानव और कहाँ कामना युक्त रति के समान सुन्दरी मेरी सखी। उस दुष्ट दानव ने इससे कह दिया है—"आगामी त्रयोदशी को तेरे साथ विवाह कर लूँगा।" इससे यह अत्यन्त ही भयभीत हो गई है।

कल इसने आत्म-हत्या करने का निश्चय किया था। ज्यों ही यह आत्म-हत्या करने को उद्यत हुई, त्यों ही स्वर्ग की साक्षात् कामधेनु इसके सम्मुख प्रकट हुई और इसे धैर्य बँधाते हुए बोली—"बेटी! तुम किसी प्रकार की चिन्ता मत करो। तेरा विवाह इस दुष्ट दानव से कभी भी नहीं हो सकता। यह तो अब मृत्यु को घड़ियाँ गिन रहा है। अति शीघ्र ही यह सूकर का रूप बनाकर मर्त्य लोक मे जायगा। वहाँ जो भी इसे अपने बाणों से मारेगा, वही तेरा पति होगा।" इतना कहकर कामधेनु वहीं तुरन्त अन्तर्धान हो गई।

"आज मैंने सुना था कि वह दुष्ट दानव सूकर का रूप रख कर मर्त्यलोक में गया है। मैंने यह भी सुना कि आज वह किसी के बाण का लक्ष्य बनकर पञ्चतत्व को प्राप्त हो गया। वह किस

कुमार के द्वारा मारा गया इसी का पता लगाने में गई थी। पता चला अवश्य ही वह मायावी दैत्य मारा गया।"

राजकुमार ने पूछा—"अच्छा, आप अपना तो परिचय दीजिये। आप कौन हैं ?"

सुन्दरी की सखी ने कहा—"अजी, मेरा परिचय ही क्या ? मैं गन्धर्व राजकुमारी इस मदालसा की प्यारी सखी हूँ। इसे मैं प्राणों से भी अधिक प्यार करती हूँ।"

कुमार ने कहा—"नहीं, तो भी आप अपना परिचय तो दें ही।"

इस पर सुन्दरी की सखी ने कहा—"मैं भी विन्ध्यवान् गन्धर्व की पुत्री हूँ। मेरा विवाह पुष्करमाली गन्धर्व के साथ हुआ था। उन्हें शुम्भ नामक दैत्य ने युद्ध में मार डाला। तब से मैं वैधव्य के व्रत का नियम पूर्वक पालन करती हुई पुण्य तीर्थों में भ्रमण करती रहती हूँ। जब मैंने सखी के अपहरण की बात सुनी, तब मैं योग के द्वारा, सब जानकर, इसके समीप आ गई हूँ और जो बनती है, इसकी सेवा करती हूँ।"

राजकुमार ने कहा—"अच्छा, मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपकी सखी अभी मूर्छित क्यों हो गई थी।"

इस प्रश्न को सुनते ही सुन्दरी के मुख-मण्डल पर एक प्रकार की रसमयी लज्जा छा गई। उसकी सखी ने कहना आरम्भ किया—"देव ! आप कोई धर्मात्मा दयालु देव प्रतीत होते हैं। आपसे मैं सच-सच बातें कहती हूँ। मेरी सखी आपके सुन्दर रूप को देखते ही मोहित हो गई। यह इसके जीवन में एक अद्भुत घटना घटित हुई। नहीं तो यह कभी किसी की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखती। आपके काले-काले घुँघराले से सुशोभित मस्तक, उभरी हुई विशाल छाती, सिंह के

स्थूल ओर मासल कंधों और आजानु लम्बित बड़ी-बड़ी विशाल बाहुओं को देखकर यह अपनेपन को भूल गई। इसका मन मधुप आपके सौन्दर्य रूपी कमलकोष में फँस गया। अब इसे चिन्ता इस बात की है, कि मेरा विवाह तो उस व्यक्ति के साथ होगा, जो पातालकेतु को मारेगा, सुरभि के वचन कभी मिथ्या तो हो नहीं सकते। इसका मन है आपके साथ और शरीर का सम्बन्ध होगा दूसरे के साथ, यह अत्यन्त ही दुःखद प्रसंग होगा। इसीलिये मेरी सखी व्याकुल हो रही है। इसने अपना सर्वस्व आपके ऊपर न्योछावर कर दिया है। यह मैंने अपना और अपनी सखी का परिचय दिया। अब हम भी आपका परिचय प्राप्त करना चाहती हैं। आप ठीक-ठीक बतावें, आप कौन हैं—देवता, गन्धर्व, विद्याधर अथवा किसी नागराज के कुमार। आप यहाँ किस कारण और कैसे आये ?"

यह सुनकर सरलता के साथ राजकुमार ने कहा—"देवि ! मैं देवता, किन्नर विद्याधर, नाग या गन्धर्व नहीं हूँ। ये सब तो देव-योनि वाले मेरे पूजनीय हैं। मैं तो मर्त्यलोक का एक मनुष्य हूँ। महर्षि गालव की कृपा से और इस सूर्यदत्त अश्व के प्रभाव से मैं यहाँ पाताल लोक में आ सका हूँ। महर्षि गालव मेरे पिता से मुझे माँग लाये थे। पातालकेतु दानव उन्हें बहुत क्लेश देता था। आज वह सूकर का रूप रखकर उनके आश्रम में गया था। मैं उसका पीछा करते हुए यहाँ आ गया हूँ। वह मेरे बाण से आहत हुआ इसी विवर में कूद पड़ा था। यही मेरे यहाँ आनेका कारण है।"

यह सुनते ही मदालसा का मुखकमल खिल उठा। उसकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। उसने प्रेम पूर्वक अपनी सखी की ओर देखा, किन्तु प्रेम के उद्रेक में वह कुछ न तो बोल ही सकी, न कुछ कह ही सकी। उसकी ऐसी दशा देखकर मदालसा

की सखी कुण्डला बोली—"कुमार! आपका कथन सर्वथा सत्य है। मेरी सखी का मन कभी अन्य पुरुष को देखकर चञ्चल नहीं हो सकता था। यह जन्मान्तरी संस्कार है। आपका-इसका सम्बन्ध अनेक जन्मों का है। तभी तो इसने देखते ही अपनी वस्तु को पहचान लिया। अब आप दोनों का विवाह हो जाना चाहिये। इसके हाथ को आपके हाथ में सौंपकर मैं भी निश्चिन्त होकर तपस्या में निमग्न हो जाऊँगी।"

कुमार ने कहा—"देवी! मैं स्वतन्त्र तो हूँ नहीं। मैं तो अपने पिता के अधीन हूँ। मेरे पिता जिसके साथ मेरा विवाह करेंगे, उसी के साथ मुझे विवाह करना होगा।"

यह सुनकर कुण्डला ने कहा—"प्रभो! आपका कथन सत्य है। मैं आपकी पितृ-भक्ति से अत्यन्त प्रसन्न हूँ, किन्तु मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि आपके माता-पिता इस सम्बन्ध से अत्यन्त ही सन्तुष्ट होंगे। यह कुलीलवंश की कन्या है, गन्धर्वराज की पुत्री है, आपके सर्वथा योग्य है। पिता इस सम्बन्ध का अभिनन्दन ही करेंगे। आप अपने मन में शंका न करें, फिर सुरभि का वचन कैसे असत्य हो सकता है?"

कुमार ने कहा—"अच्छी बात है। जब ऐसा ही विधि का निश्चित विधान है, तो उसे अन्यथा कर ही कौन सकता है। किसी पुरोहित को बुलाओ, होय चाईं-माईं।"

राजकुमार की स्वीकृति मिलने पर वहीं कुण्डला ने विवाह की सब सामग्री जुटाई। उसने अपने कुलगुरु तुम्बरु का स्मरण किया। तुम्बरु समिधा-कुशा लिये, बगल में पोथी-पत्रा दबाये वहाँ आ गये। फिर तो क्या था, होने लगी स्वाहा-स्वाहा। मदालसा और कुमार ऋतध्वज का विधिवत् विवाह हो गया। दोनों पति-पत्नी-रूप सम्बन्ध-सूत्र में आबद्ध हो गये। कुण्डला

ने वर-वधू को आशीर्वाद दिया। दोनों को शिक्षा देते हुए उसने कहा—"तुम दोनों मिल-मिलकर प्रेमपूर्वक रहना। एक दूसरे की बात मानना। गृहस्थी-रूपी रथ के स्त्री और पुरुष दो पहिये हैं। जब दोनों ही यथा स्थान रहेंगे, तभी गाड़ी चल सकती है। पति-पत्नी के ही द्वारा देवता, पितर, भृत्य तथा अतिथियों का स्वागत-सत्कार कर सकता है। धर्म, अर्थ, काम—इस त्रिवर्ग की प्राप्ति पति-पत्नी के सम्मिलित उद्योग द्वारा ही हो सकती है। तुम नव-दम्पति सुख पूर्वक रहो, दोनों में दिनों दिन अनुराग बढ़े, यही मेरी प्रभु के पाद पद्मों में प्रार्थना है।" इतना कहते-कहते कुण्डला का कंठ अवरुद्ध हो गया। उसकी आँखों से टप-टप प्रेमाश्रु गिरने लगे। रोते-रोते उसने मदालसा को गले लगाया। मदालसा ने आँसू पोंछते हुए कहा—"बहन! तुम मुझे अकेली क्यों छोड़ रही हो। तुम भी मेरे साथ चलो।"

कुण्डला ने कहा—"अकेली कहाँ छोड़ रही हूँ, मैं तो तुझे तेरे स्वामी के हाथों सौंप रही हूँ। अब मैं निश्चिन्त होकर भगवान् का भजन करूँगी। प्रभु से प्रार्थना करूँगी। तेरा सुहाग अचल रहे, तू पुत्रवती हो, तुझे मोक्ष का पूर्ण ज्ञान हो। अच्छा जा!" यह कहकर उसने रोते-रोते मदालसा की चोटी भिगो दी मदालसा भी भोली बच्ची की भाँति कुण्डला से लिपट कर फूट फूट कर रो रही थी। राजकुमार ने कुण्डला को प्रणाम किया, उसकी चरण धूलि ली। कुण्डला ने कुमार के सिर पर हाथ रखकर उन्हें आशीर्वाद दिया। देखते-देखते वह वहीं अन्तर्धान हो गई। अब कुमार अपनी प्राणप्रिया मदालसा को कुवलय नामक अपने दिव्य घोड़े पर बिठाकर पाताल लोक से चल दिया।

पातालकेतु के सगे सम्बन्धी दानवों ने जब यह समाचार सुना कि मर्त्यलोक का एक क्षुद्र मनुष्य पाताल में आकर पाताल-

केतु की भावी पत्नी को चुराये ले जा रहा है तब, सब के सब अस्त्र-शस्त्र लेकर राजकुमार ऋतध्वज के ऊपर टूट पड़े। राजकुमार अपने घोड़े पर सवार थे, अतः उन्हें पराजित होने का तो भय ही नहीं था, वे उन दानवों पर दिव्य अस्त्रों का प्रयोग करने लगे। कुमार की बाण वर्षा के सम्मुख दानव युद्ध में ठहर न सके। बहुत से बाणों से बिध कर मर गये, बहुत तो रण छोड़ कर भाग गये, बहुत वहीं क्षत-विक्षत होकर गिर गये। इस प्रकार दानवों को पराजित करके कुमार सर्व प्रथम गालव मुनि के आश्रम पर आये। शिष्यों सहित मुनि ने जब कुमार को बहू के साथ देखा तो वे सब परम प्रमुदित हुए। मुनियों ने नव-दम्पति को भाँति-भाँति के आशीर्वाद दिये।

इस प्रकार मुनियों द्वारा आदृत होकर तथा उनकी आज्ञा लेकर ऋतध्वज अपने पिता की पुरी में आये। माता पिता ने जब पुत्रबधू के साथ अपने पुत्र को देखा, तब तो उनके आनन्द की सीमा न रही। पिता ने अपने प्यारे पुत्र की प्रशंसा की, अपने भाग्य की सराहना की। माता ने वर-वधू को अनेकों आशीर्वाद दिये। नगर भर में उत्सव मनाया गया। मदालसा के अनिर्वचनीय रूप को देखकर सभी स्त्री पुरुष मन्त्र-मुग्ध की भाँति हो जाते। उसे देखकर सभी अपने भाग्य की सराहना करते। मदालसा ने अपने शील स्वभाव, सदाचार और स्नेहयुक्त सरल व्यवहार से सभी को वश में कर लिया था। वह नित्य प्रति प्रातःकाल उठकर अपने सास-श्वसुर के पाद-पद्मों में प्रणाम करती और सदा उनकी आज्ञा के अनुसार व्यवहार करती। कुमार ने अपना सर्वस्व मदालसा को समर्पित कर दिया था। मदालसा भी उन्हें अपना इष्टदेव मानकर सदा उनके अधीन रहती। उन दोनों में ऐसा प्रेम था कि 'एक प्राण दो देह' वाली कहावत इनके

ही विषय में चरितार्थ होती थी। कुमार मदालसा के साथ महलों में, पुर में, वन उपवनो, मे नदी तट तथा उपत्यकाओ में विहार करते। इस प्रकार सुखपूर्वक उनके दिन व्यतीत होने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कुमार ऋतध्वज की अपनी पत्नी में अधिक आसक्ति देखकर महाराज शत्रुजित ने एक दिन उनसे कहा—"बेटा! हम क्षत्रिय हैं, हमारा मुख्य कर्तव्य प्रजा के दुःखों को दूर करना ही है। गो ब्राह्मणों की रक्षा ही हमारा परम धर्म है। पृथ्वी पर अनेकों राक्षस विविध वेष बनाकर घूमा करते हैं और वे प्रजा को पीडा पहुँचाते हैं। साधु पुरुषों को दुःख देते हैं। तुम नित्य ही पृथ्वी पर घूम-घूमकर साधुओं का सरक्षण और दुष्टो का दमन किया करो।"

पितृ भक्त कुमार ऋतध्वज ने कहा—"पिताजी! मैं तो आप की आज्ञा के आधीन हूँ। आज से मैं नित्य प्रति सम्पूर्ण पृथ्वी मडल पर घूमा करूँगा और दीन दुखियों के दुःखों को देखकर उन्हे दूर किया करूँगा।" उस दिन से नित्य ही प्रातःकाल कुमार अश्व पर चढकर जाते और दोपहर तक पृथ्वी की परिक्रमा करके लौट आते। उनके घोडे की गति सर्वत्र थी। वे जिधर चाहते चले जाते। प्रजा के दुःखो को सुनते, साधु महात्माओ से उनके आश्रमो का कुशल पूछते, कोई दैत्य दानव उन्हे दुख देता, तो वे उस दुष्ट को दण्ड देकर यमपुर पठाते। घूम-घाम कर मध्याह्न समय अपने महल मे आ जाते, फिर मदालसा के साथ आनन्द विहार करते।

एक दिन कुमार घूमते फिरते यमुना तट पर पहुँचे। वहाँ उन्हें एक मुनि का बडा ही सुन्दर स्वच्छ आश्रम दिखाई दिया। उसमें फल पुष्पो के बहुत वृक्ष लगे थे। एक बडी-बडी जटाओ वाला मुनि उसमे तप कर रहा था।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! वह किस मुनि का आश्रम था ?"

यह सुनकर हँसकर हुए सूतजी बोले—"अजी, महाराज ! कुछ न पूछिये। बहुत से दुष्ट पुरुष अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये साधु का वेप बनाकर अपनी इन्द्रियों की तृप्ति करते हैं। राग, द्वेष, अनाचार, व्यभिचार फैलाते हैं। वे मन से तो असुर, राक्षस होते हैं, ऊपर से साधु-सन्तों का रूप बना लेते हैं। इन धूर्तों को परलोक का भी भय नहीं रहता। उस मुनि का नाम आप कपट मुनि समझ लें। बात यह थी, जब पातालकेतु को मारकर मदालसा को साथ ले कुमार आने लगे, तो पातालकेतु का भाई तालकेतु उनसे लड़ने आया। समर में कुमार के सम्मुख न ठहर सका। इसलिये उसने कुमार से छल पूर्वक बदला लेने का निश्चय किया। यह कपट वेप बनाकर इसी घात में घूमा करता था। उसने माया से यमुना तट पर एक आश्रम बना लिया और स्वयं ही साधु का कपट वेप बनाकर उसमें रहने लगा। राजकुमार ऋतध्वज ने तो उसे पहचाना नहीं। वह तो इस घात में ही था। कुमार ने मुनि समझकर उसे प्रणाम किया। उस कपट मुनि ने कुमार की बड़ी आवभगत की।

कुमार ने कहा—"मुनिवर ! आपका तप तो निर्विघ्न होता है न ? आपको कोई कष्ट तो नहीं है ? किसी वस्तु की आवश्यकता तो नहीं है ?"

मुनि ने कहा—"राजन् ! आपकी छत्रछाया में भला हम मुनियों को कष्ट कैसे हो सकता है ? किन्तु कुमार ! मैं एक यज्ञ कर रहा हूँ आप यह अपना कण्ठ का हार मुझे दे दें, तो मेरा यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हो जाय। दक्षिणा देने के लिये मेरे पास सुवर्ण नहीं है। बिना दक्षिणा के यज्ञ होता नहीं।"

उदार राजकुमार के लिये यह साधारण सी बात थी, अतः उन्होंने तुरन्त अपने कण्ठ का बहुमूल्य हार उतार कर उस कपट मुनि को दे दिया। हार लेकर मुनि ने कहा—"कुमार! एक काम तुम्हें और करना होगा। कुछ काल तक तुम मेरे आश्रम की रक्षा करो। मैं यमुना-जल में डूबकर वरुणदेव की उपासना करलूँ जब तक मैं न लाउँ, तब तक तुम मेरे आश्रम की रक्षा करते रहो। तुम अपनी प्रतिज्ञा से विचलित न हो।"

कुमार के स्वीकार करने पर वह दैत्य तुरन्त जल में डूबकर अपनी माया से राजा के पुर में पहुँचा। वह जानता था कि मदालसा कुमार को कितना प्यार करती है। इसीलिये वह अन्तःपुर में चला गया। राजा-रानी ने उसका स्वागत सत्कार किया। उसने समवेदना प्रकट करते हुए कहा—"आप लोगों को मैं एक अत्यन्त ही दुःखपूर्ण समाचार सुनाने आया हूँ। कुमार कुवलयाश्व अपने दिव्य अश्व पर चढकर मेरे आश्रम पर गया था। वहाँ दुष्ट दैत्यों ने उसे घेर लिया। कुमार बडी वीरता से लडता रहा, परन्तु अन्त में किसी दुरात्मा दैत्य ने उसकी छाती में त्रिशूल भोंक दिया। मरते समय कुमार ने बडे कष्ट से अपने कण्ठ का हार उतार कर मुझे दिया और आपको सूचना देने का आदेश देकर वे परलोक वासी हुए। मुनियों ने बडे कष्ट से उसका अग्नि संस्कार कर दिया। उनका घोडा आँसू बहाता हुआ हिनहिनाता रहा। उसे भी वह दैत्य बलपूर्वक पकड ले गये। मैं केवल सूचना देने और कण्ठहार को पहुँचाने आया हूँ।" यह कहकर वह कपट मुनि तुरन्त वहाँ से चला गया। मदालसा ने ज्यों ही पति की मृत्यु का समाचार सुना, त्यों ही वह तुरन्त मूर्छित होकर भूमि पर गिर पडी और क्षण भर में उसके प्राणपखेरू उसके देह रूपी पिंजडे को परित्याग करके उड गये। उसका प्राणहीन शरीर वहाँ पडा रह

गया। एक तो कुमार की मृत्यु के समाचार से ही सब दुखी थे, अब पुत्र-वधू के परलोक गमन से सभी का धैर्य छूट गया। अन्तःपुर की सभी स्त्रियाँ छाती पीट-पीटकर रुदन करने लगीं। सुनते ही असंख्य प्रजा के नर-नारी एकत्रित हो गये। मदालसा को मृतक देखकर सभी विलाप कर रहे थे, सब आँसू बहा रहे थे। राजकुमार और मदालसा का नाम ले लेकर विलाप कर रहे थे।

राजा-रानी ने सबको धैर्य धारण करने को कहा, साथ ही अपने भाग्य की सराहना की, ब्राह्मणों की रक्षा में उनका पुत्र परलोक वासी हुआ है। सबको समझा-बुझाकर राजा मदालसा के मृतक शरीर को श्मशान ले गये, और उसका विधिवत् दाह संस्कार किया। दाह करके उन्होंने पुत्र और पुत्र-वधू को जलाञ्जलि दी, और फिर घर लौट आये।

इधर वह मुनि बना हुआ तालकेतु तुरन्त जल में घुस गया, और क्षण भर में माया से अपने आश्रम के निकट प्रकट हुआ। फिर बड़े शिष्टाचार से कुमार से बोला—"राजपुत्र! आपने निष्कपट भाव से मेरी सेवा की। भगवान् आपका भला करें। आपको कष्ट तो अवश्य हुआ, किन्तु वरुण सम्बन्धी मेरी इष्टि सकुशल समाप्त हुई। अब आप सुखपूर्वक अपने नगर को जा सकते हैं।"

राजकुमार उस कपट मुनि से आज्ञा लेकर, उसे प्रणाम करके अपने परम वेगवान अश्व पर चढ़कर नगर की ओर चले। वे अपने माता-पिता के चरणों में प्रणाम करने को अत्यन्त उत्सुक हो रहे थे। वे सोच रहे थे, मदालसा ने अभी तक जल भी न पीया होगा। वह मेरी प्रतीक्षा कर रही होगी। उसे पल-पल भारी हो रहा होगा। वह मुझसे प्रेम के साथ कहेगी—"प्राण नाथ! आज इतनी देर क्यों हुई?" इसी प्रकार की बातें सोचते-

सोचते वे क्षण भर में ही अपनी नगरी में पहुँच गये। वहाँ उन्होंने देखा, सर्वत्र उदासी छाई हुई है। जो भी उन्हें देखता है, आश्चर्य प्रकट करता है। कोई कुछ कहता नहीं। कुमार इसका कुछ भी अभिप्राय नहीं समझ सके। वे सीधे महल में चले गये। वहाँ सर्वत्र शोक छाया हुआ था। नर-नारियों से भरा हुआ महल भी उन्हें सूना-सूना-सा प्रतीत हुआ, घोड़े से उतर कर उन्होंने माता-पिता के चरण स्पर्श किये। उन्होंने रोते-रोते उन्हें छाती से लगाकर अनेकों आशीर्वाद दिये। पुत्र की पुनः प्राप्ति से वे हर्षित भी थे और पुत्रवधू की मृत्यु से उन्हें दुःख भी अपार था।

कुमार ने इस उदासी और हर्ष का कारण पूछा, तो पिता ने आदि से अन्त तक सभी बातें सुना दी। मदालसा की मृत्यु का सम्वाद सुनते ही कुमार किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन गये। माता-पिता के सम्मुख वे शोक भी प्रकट नहीं कर सकते थे। लज्जा के कारण वे अवाक् रह गये। बारम्बार मदालसा के प्रेम को याद करके उनका हृदय भर आता। वे सोचते—"हाय! वह कितनी सर्वा-साध्वी थी। मुझसे उसका कितना अनुराग था। मेरी मृत्यु का समाचार सुनते ही वह तुरन्त मर गई। प्रेम हो तो ऐसा हो। मुझ अधम, अनार्य, कृतघ्न, मन्दमति मूर्ख तथा हृदय हीन को धिक्कार है, जो अपनी ऐसी प्रियतमा के बिना भी मैं जीवित बना हुआ हूँ। अब मुझे भी उसी के पथ का अनुसरण करना चाहिये।"

कुमार ने पुनः गम्भीरता के साथ सोचा—"मेरा कर्तव्य क्या है। मेरी प्रिया ने जो कुछ किया उचित ही किया, किन्तु मैं प्राण परित्याग करने में स्वतन्त्र नहीं हूँ। मैं तो अपने पूजनीय पिता के अधीन हूँ। मैं मर भी जाऊँ तो उसका क्या उपकार होगा, यदि मैं रात-दिन शोक में ही निमग्न रहूँ तो मेरी माता को कष्ट

होगा। अतः मैं आज से यही प्रतिज्ञा करता हूँ कि मदालसा को छोड़कर मैं किसी दूसरी स्त्री का पत्नी भाव से स्पर्श नहीं करूँगा। यदि इसी जन्म में मुझे मेरी मनोरमा मदालसा पुनः मिल जायगी, तब तो मैं उससे स्त्री सम्बन्ध करूँगा; नहीं तो आज से स्त्री मात्र मेरी पूजनीया हैं। मैं स्त्री सुख का सर्वथा त्याग कर दूँगा।" ऐसी प्रतिज्ञा कर वे माता-पिता की सेवा करते हुए मदालसा की स्मृति में अपने दिन बिताने लगे। मदालसा को वे कभी भूलते नहीं थे, सदा उसकी मनोहर मूर्ति उनके हृदय पटल पर नृत्य करती रहती थी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! मनुष्य बिना प्रेम किये रह नहीं सकता। मनुष्यों की बात तो पृथक् रही। पशु भी प्रेम करते हैं। मनुष्य के हृदय में प्रेम और द्वेष करने की प्रवृत्ति है। उसे किसी से प्यार करने में, मीठी-मीठी बातें करने में भी आनन्द आता है और द्वेष करने में, पर निन्दा करने में भी सुख मिलता है। पर-निन्दा करने में सुख न हो तो इतने पढ़े-लिखे लोग अकारण बड़े बड़ों की निन्दा क्यों करें। उन्हें निन्दा करने में भी सुख का अनुभव होता है, जो लोग दूसरों की निन्दा नहीं करते, किसी एक में ही अपना चित्त लगा लेते हैं, वे संयमी सदाचारी पुरुष श्रेष्ठ होते हैं। ऐसे पुरुषों को भी प्रेम करने वालों की आवश्यकता रहती है। यह मानव प्राणी अनादि काल से प्रेम का भूखा बना है। यदि प्रेम की भूख प्रबल न हो, तो जिन्हें खाने पीने, पहनने तथा वाहन आदि की सभी सुविधायें प्राप्त हैं, वे दुखी क्यों देखे जाते ? दुख वस्तुओं के संग्रह या अभाव में नहीं है। हम जो चाहते हैं, वह न प्राप्त हो तो दुःख होता है। हम आशा करते हैं हमारा मित्र हमें प्रेम करे, यदि वह प्रेम न करके विश्वासघात करता है, तो हमें दुःख होता है। पत्नी चाहती है पति मुझसे प्रेम करे,

किन्तु वह पत्नी से प्रेम न करके दूसरी किसी स्त्री से प्रेम करता है, तो उसे मर्मान्तक पीड़ा होती है। प्रेम के बिना पदार्थों में कोई स्वाद नहीं, प्रेम के बिना अमृत पिलावें तो वह निस्सार है, और प्रेम सहित विष भी पिया जाय, तो वह अमृत है। भगवन्! आप तो बालकपन में ही बाबाजी बन गये। आपने तो शिशु काल से ही प्रभु से प्रेम जोड़ लिया। आप सब तो संस्कारी हैं, कारक पुरुष हैं साधारण पुरुषों को देखें, वे प्रेम के लिये कितने तड़पते रहते हैं। बालक अपने साथी बालक-बालिकाओं से कैसा प्रेम करते हैं। एक दूसरे के साथ खेलते हैं, उन्हें घर ले जाते हैं। मित्र के पिता से पिताजी कहते हैं, साथ-साथ बैठकर थाली में खाते हैं। बालकपन में कितना भोलापन रहता है। बाल्य-काल की मैत्री कैसी निश्छल– निष्कपट होती है। लड़कियाँ अपनी सहेलियों से कैसी घुल-घुलकर बातें करती हैं। गुड्डा गुड़ियों से खेलती हैं। खेल-खेल में लड़ाई भी हो जाती है। फिर प्रेम हो जाता है। बालक जिसे भी देखता है उसी में प्रेम की खोज करता है। इसीलिये बालक को सब प्रेम करते हैं। युवावस्था में हृदय किसी को अर्पित करने को व्याकुल हो जाता है। इसीलिये माता-पिता विवाह कर देते हैं। पत्नी अपने अनुकूल पति को पाकर, और पति अपने मनोऽनुकूल पत्नी को पाकर अपना हृदय उसे सौंप देते हैं। यदि दोनों का मन नहीं मिला तो रोते-रोते जीवन बिताना पड़ता है। अथवा जिस स्त्री को पति प्यार करता है और वह परलोक प्रयाण कर जाती है, तो सत्पति फिर दूसरी पत्नी से सम्बन्ध नहीं करता। फिर उसे मित्रों से वह प्रेम प्राप्त करना होता है। पिता पुत्र से प्रेम करके अपने भावों को व्यक्त करता है। जिसके न स्त्री है न बच्चे, मित्र हैं न सम्बन्धी, ऐसे साधु सन्त अपने शिष्यों के प्रति प्रेम प्रदर्शित करते हैं। जिस हतभाग्य

के प्रेम करने को कोई भी नहीं, वह या तो पाषाण हृदय होकर संसार में जड़ता को प्राप्त होता है या प्रेमार्णव में डूबकर अपने आपको उसमें तन्मय कर देता है।"

कुमार ऋतध्वज अपनी पत्नी से अत्यधिक प्रेम करते थे। किन्तु वह उनकी मिथ्या मृत्यु का समाचार सुनकर उनके वियोग मे परलोक वासिनी बन गयीं। राजकुमार निरन्तर उसकी चिन्ता में ही निमग्न रहने लगे। उनके पिता ने सोचा— "पुत्र का जैसे भी मनोविनोद हो, वही उपाय करना चाहिये। वे जानते थे, मेरा पुत्र परम सदाचारी है, वह दृढ़प्रतिज्ञ है। किसी स्त्री से तो वह बात करेगा नहीं। कुछ राजकुमारों को इस के समीप रख दें। उनसे सम्भव है इसका मन बहल जाय। यही सोचकर उन्होंने कुमार की अवस्था के बहुत से राजकुमार वहाँ रख दिये। राजकुमार ऋतध्वज उनके साथ खेलने-कूदने और हँसने लगे। यह देखकर राजा को परम प्रसन्नता हुई। अब तो राजा ऐसा नियम कर दिया, कि कुँवर की अवस्था के जितने भी बच्चे हैं सब खेलने-कूदने कुमार के समीप बिना रोक टोक के जा सकते हैं। इससे ऋतध्वज के बहुत से समवयस्क साथी महलों में आकर उनके साथ खेलने-कूदने और मनोविनोद करने लगे। अब कुमार का अधिकांश समय अपने मित्रों के साथ खेलने कूदने में ही व्यतीत होने लगा।

राजकुमार प्रेमी थे, उदार थे, सहृदय थे, अतः बहुत से कुमार उनके समीप आने लगे। वे सबका यथोचित स्वागत सत्कार करते, सबके साथ प्रेम पूर्वक मीठी-मीठी बातें करते, सबके साथ बैठकर भगवान् का प्रसाद पाते, खेलते-कूदते और भाँति-भाँति के मनोरञ्जन करते।

प्रेम में स्थान की दूरी व्यवधान नहीं डालती। प्रेमी, प्रेमी को

खोज ही लेता है। प्रेम छिपाये नहीं छिपता, प्रेम की गन्ध बिना फैलाये फैल जाती है। पाताल में रहने वाले नागों के राजा अश्वतर के दो कुमार थे। वे मनुष्यों का वेष बनाकर एक दिन पृथ्वी पर घूमते-फिरते राजा के यहाँ आये। उन्होंने कुमार ऋतध्वज को अपने समवयस्क युवकों के साथ हास्य परिहास्य तथा भाँति भाँति की प्रेम की बातें करते हुए देखा। उनके शील स्वभाव और प्रेम के व्यवहार से वे नागकुमार मुग्ध हो गये। राजकुमार ने उनका भी स्वागत किया और कुछ ही काल में परस्पर आत्मीय हो गये। चलते समय कुमार ने कहा—"कल अवश्य आइयेगा। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, जब तक आप दोनों न आयेंगे मैं प्रसाद न पाऊँगा। देखिये भूल न जाइयेगा।" नाग कुमारों ने भी कहा—हाँ, हम कल अवश्य आयेंगे। ऐसा कह वे स्नेह पूरित हृदय को लेकर कुमार से विदा हुए। रात भर वे कुमार के शील स्वभाव और प्रेम को याद करते रहे, उन्हें नींद न आई, प्रातःकाल होते ही वे पुनः राजकुमार के समीप पहुँचे, कुमार उन दोनों को देखकर खिल उठे, उन्हें ऐसा लगा मानों ये उनके दोनों बाहरी प्राण हैं।

प्रायः देखा जाता है कि जिनसे हमारा जन्मान्तरीय घनिष्ट सम्बन्ध होता है, उन्हें देखते ही प्रेम हो जाता है। कक्षा में बहुत से विद्यार्थी पढते हैं, एक अध्यापक से शिक्षा लेते हैं, एक ही स्थान पर पढते हैं, एक भवन में रहते हैं, फिर भी किसी से तो हमारी एक ही दिन में घनिष्टता हो जाती है और बहुतों से वर्षों साथ रहने पर भी परिचय तक नहीं होता। वैसे कुमार सभी से प्रेम करते थे, किन्तु इन नाग कुमारों से उनका अत्यधिक स्नेह हो गया। वे उनके बिना व्याकुल हो जाते, बिना उन्हें खिलाये कोई वस्तु न खाते, अच्छी से अच्छी वस्तु आती तो पहले उन्हें

देते, गुप्त से गुप्त बात उससे पूछते। एक दिन नागकुमारों ने कहा—"कुमार! आप विवाह क्यों नहीं करते?"

कुमार ने बात को टालते हुए कहा—"अजी विवाह क्या करना, ऐसे ही हँसते-खेलते दिन कट जायेंगे।"

नागकुमार तो उपदेव थे, वे समझ गये कि कुमार के हृदय में कोई आन्तरिक वेदना है। अतः वे बोले—"आप हमसे कुछ छिपा रहे हैं, हमें विवाह न करने का सच्चा कारण बताइये।"

यह सुनकर अत्यन्त ही स्नेह के साथ राजकुमार ने कहा—"आपसे छिपाने की कोई बात नहीं। मैं सोचता था, अपना प्रेम ही आपको दूँ। अपने दुःख में आपको दुखी क्यों करूँ। किन्तु सच्चे मित्र तो सुख की अपेक्षा दुःख ही बाँटना चाहते हैं। मेरी एक परम प्यारी मदालसा पत्नी थी। उसने मेरे वियोग में प्राणों का परित्याग कर दिया, तभी से मैंने प्रतिज्ञा कर ली है, कि मदालसा को छोड़कर किसी भी स्त्री से सम्बन्ध न करूँगा। इसीलिये अब जीवन में स्त्री सुख भोगने की मुझे इच्छा नहीं। मैं मदालसा को कभी भूल नहीं सकता। इतना कहते-कहते कुमार की आँखों से टप-टप आँसू गिरने लगे। मानों उनकी जमी हुई हृदय की वेदना स्मृति रूपी उष्णता को पा, पिघलकर नेत्रों द्वारा बह रही हो। नागकुमार चाहते थे, वे अपने मित्र का कुछ संकट हो, तो उसे दूर करें। किन्तु जो स्त्री मर गई। जिसका शरीर जला दिया गया, वह पुनः कैसे प्राप्त हो सकती है। यही सोचकर निराश हो गये। इस घटना को सुनकर कुमार के प्रति उन दोनों का अनुराग और अत्यधिक बढ़ गया। अब वे नाना उपायों से कुमार को प्रसन्न करने का निरन्तर प्रयत्न करते रहते। सूर्यास्त होने पर बड़े कष्ट से जाते रात्रि भर नागलोक में लम्बी-लम्बी साँसें लेते रहते और सूर्योदय के पूर्व ही आ जाते।"

इधर अश्वतर नाग ने देखा। मेरे दोनों लड़के अब नागलोक में नहीं रहते। सूर्योदय से पूर्व न जाने कहाँ चले जाते हैं और रात्रि में लौटते हैं। पता नहीं कहाँ रहते हैं। एक दिन पिता ने पूछा—'पुत्रो! तुम दोनों भाई दिन भर कहाँ रहते हो ?"

कुमारों ने कहा—"पिताजी! पृथ्वी पर एक बड़े धर्मात्मा महाराज शत्रुजित है। उनके ऋतध्वज नाम के एक बड़े ही गुणी कुमार हैं। वे परम रूपवान, विनयी, सरल सदाचारी, शूरवीर अभिमान शून्य, मधुरभाषी, प्रिय दर्शन और प्रेमी हैं। वे सुन्दर वक्ता हैं, उदार हैं, मित्रों का आदर करने वाले हैं। बोलते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है मानो उनके मुख से फूल झड़ रहे हों। वे माननीय पुरुषों का बड़ा आदर करते हैं, सदा हँसकर सबसे प्रथम बोलते हैं। उनका आभूषण शील ही है, विनय की तो मानों वे सजीव मूर्ति हैं। वे हमें अपने सहोदर भाइयों से भी अधिक प्यार करते हैं। साथ बैठकर प्रेम पूर्वक खिलाते हैं, विविध भाँति के उपहार हमें वे अर्पित करते हैं। पिताजी! हम क्या कहें उन्होंने अपने प्रेम पाश में हमें ऐसा कसकर बाँध लिया है, कि हमें नागलोक तथा भूलोक में कहीं अच्छा ही नहीं लगता। चित्त यही चाहता रहता है, कि निरंतर उनके ही समीप बैठे रहें। दिन भर तो हम उनके समीप रहते हैं। रात्रि में आप के भय से यहाँ चले आते हैं।"

नागराज अश्वतर ने कहा—"अरे बच्चो! पृथ्वी पर तो दिन में बड़ा गर्मी पड़ती है, तुम वहाँ रहते कैसे हो ? हमारे यहाँ नागलोक में तो सूर्य की किरणें पहुँचती ही नहीं। अतः हम लोग तो उष्णता सहने के आदी ही नहीं।"

कुमारों ने कहा—"पिताजी! प्रेम एक ऐसा अनुपम पेय है कि प्रकृति के स्वाभाविक गुण उसमें बाधा दे ही नहीं सकते। उस

सर्व गुण सम्पन्न राजकुमार के साथ रहने से भगवान मार्तण्ड की तीक्ष्ण किरणें भी हमें आह्लाद प्रदान करती हैं, और उनके बिना पाताललोक की ये सुखमयी शीतल रात्रियाँ भी हमें सन्ताप देने वाली ही होती हैं। पिताजी! उस निराभिमान विनयी राजकुमार ने हमें अपने प्रेम सूत्र में कसकर बाँध लिया है।"

अपने पुत्र के मुख से राजकुमार ऋतध्वज की ऐसी प्रशंसा सुनकर नागराज अश्वतर के रोम-रोम खिल उठे। उन्होंने अपने पुत्रों से कहा—"उस पुत्र के माता-पिता धन्य हैं, जिनकी प्रशंसा पुरुष पीठ पीछे भी प्रेम पूर्वक करते हों। ऐसे प्रेमी पुरुष संसार में बड़े भाग्य से मिलते हैं। ऐसे पुरुषों के दर्शनों से ही परम पुण्य प्राप्त होता है, किन्तु तुम लोग बड़े कृतघ्नी हो।"

नागकुमारों ने सकुचाते हुए पूछा—"कैसे पिताजी ?"

अश्वतर ने कहा—"देखो, वह तो तुम्हें इतना प्यार करता है किन्तु तुम उसका कुछ भी प्रत्युपकार नहीं करते। प्रेम में यह होता है कि अपनी अच्छी वस्तु मित्र को दे और वह जो दे, उसे प्रेम पूर्वक स्वीकार करे। उसके घर में बैठकर अपने घर की तरह निःसंकोच खाय और उसे अपने यहाँ खिलाये। उसके माता-पिता को अपना माता-पिता समझे, और अपने माता-पिता से आकर उनका परिचय दे। अपने दुख-सुख की बात मित्र से कहे और उसके दुख-सुख की बात उससे सुने। उसके विवाह उत्सवों में घर की भाँति काम में जुटा रहे और अपने पर्व उत्सवों में उसे आदर पूर्वक बुलावे। उसके दुःखों को दूर करने का सदा प्रयत्न करता रहे, और अपने दुखों को भरसक उसे न सुनावे, सो, तुम लोग इनमें से कुछ भी नहीं करते। तुम्हारे यहाँ नागलोक में ऐसी-ऐसी मणियाँ हैं उसे यहाँ लाया करो, और वह जो चाहे उसे दिया करो।"

नागकुमारों ने कहा—"पिताजी ! हमारे यहाँ क्या है। उसके यहाँ जो-जो वस्तुएँ हैं उसे तो हमारे नागलोक के नाग जानते भी न होंगे। उसे किसी वस्तु की कमी नहीं है। उसे हम क्या दे सकते हैं। जिस वस्तु की उसे आवश्यकता है, वह असम्भव है। वह दी ही नहीं जा सकती।"

अश्वतर नाग ने कहा—"संसार में उद्योगी पुरुषों के लिये असम्भव तो कोई वस्तु है ही नहीं। तुम मुझे बतलाओ। वह क्या चाहता है, मैं उसको प्रसन्नता के लिये वही वस्तु लाकर उसे दूँगा।"

यह सुनकर कुमारों ने आदि से अन्त तक मदालसा का सम्पूर्ण वृत्तान्त बताया, और अन्त में कहा—"पिताजी वह मदालसा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहता। उसे पाकर वह प्रसन्न अवश्य होगा, किन्तु वह तो मर गई। उसका आना अब असम्भव ही है। अतः उसे यहाँ लाकर हम क्या करेंगे।"

अश्वतर ने आवेश में आकर कहा—"मैंने तुमसे पहले ही कह दिया है, संसार में असम्भव वस्तु कोई नहीं है। मैं मदालसा को लाऊँगा और तुम्हारे उस राजकुमार मित्र को प्रसन्न करूँगा।" यह कहकर नागराज तुरन्त तप करने बन को चले गये। अश्वतर नाग पाताललोक से निकलकर नर-नारायण की तपस्या भूमि बदरिकाश्रम की ओर गये और वहाँ से भी आगे वे केशव प्रयाग पहुँचे, जहाँ सरस्वती नदी भगवती अलकनन्दा से आकर मिली हैं। फिर वे सरस्वती के किनारे-किनारे उस पर्वत पर पहुँचे, जहाँ से सरस्वती नदी निकली हैं। उसके समीप कागभुसुण्ड चोटी के समीप के एक ऐसे पर्वत शिखर पर—जहाँ महीनों बरफ जमी रहती है—रहकर घोर तप करने लगे। वहाँ उन्होंने सरस्वती देवी की आराधना की।

नागराज की आराधना से भगवती सरस्वती उन पर प्रसन्न हुईं। प्रकट होकर उन्होने नागराज से वरदान माँगने को कहा। तब नागराज ने हाथ जोड़कर कहा—"माता! हम दो भाई हैं, मेरे एक भाई का नाम कम्बल है और मेरा नाम अश्वतर है। हम दोनों भाई अश्विनी कुमारों की तरह सदा साथ ही प्रेमपूर्वक रहें और दोनों सर्वश्रेष्ठ संगीतज्ञ समझे जायें।"

सरस्वतीजी 'तथास्तु' कहकर वहीं अन्तर्धान हो गईं। कम्बल और अश्वतर जानते थे, कि भगवान शंकर आशुतोष हैं। वे अवघरदानी भी हैं, संगीत उन्हें अत्यन्त प्रिय हैं। गा बजाकर तथा उनके सम्मुख नृत्य कर जो चाहो सो वर ले लो। उनके यहाँ संभव असंभव कुछ है ही नहीं। वे जो चाहें सो कर सकते हैं यही सब सोचकर तथा सरस्वती की कृपा से संगीतज्ञ होकर दोनों सरस्वती स्रोत से भी आगे कैलाश पर्वत पर पहुँचे। वहाँ निराहार रहकर गा-बजाकर शंकरजी को संतुष्ट करने लगे।

कुछ ही काल में अवघरदानी भगवान् भूतनाथ प्रसन्न हुए, और दोनों नागों से वर माँगने को कहा—महादेव जी को प्रसन्न देखकर कम्बलाश्वतर दोनों भाइयों में से अश्वतर नाग बोला—"प्रभो! यदि आप हम पर प्रसन्न हैं, तो राजकुमार ऋतध्वज की पत्नी मदालसा मेरे यहाँ पुत्री बनकर प्रकट हो। उसका वैसा ही रूप, वैसी ही अवस्था, वैसा ही शील स्वभाव हो। उसे पूर्व-जन्म की सभी बातें स्मरण हों। वह योगिनी ब्रह्मवादिनी तथा पूर्णज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न हो।"

यह सुनकर भूतनाथ भगवान् भोलानाथ ने कहा—"अच्छी बात है ऐसा ही होगा। तुम ध्यान मग्न होकर बैठना, तुम्हारे फण से मदालसा ज्यों की त्यों उत्पन्न हो जायगी।" इतना कहकर

दोनों नागकुमारों ने कुवलयाश्व राजकुमार के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा—"कुमार ? आपका कथन यथार्थ है। हमने तो कभी भेद भाव रखा ही नहीं। जैसा आप सोच रहे हैं, वैसा ही हमारा भाव है। हम तो इसे ही अपना घर समझते हैं। हमने भेद-भाव की भावना से यह बात नहीं कहीं थी। हमारे पूजनीय पिताजी तुम्हें देखने को बहुत उत्कण्ठित हैं। वे हमारे बहुत दिनों से पीछे पड़ रहे हैं। आज उन्होंने अत्यन्त आग्रह के साथ कहा है—"कुमार को अवश्य लाना। उन्हीं के संदेश को हमने अपनी भाषा में दुहराया है।"

इतना सुनते ही कुमार तुरन्त सिंहासन से कूद पड़े। उनकी आँखों से प्रेमाश्रु निकल रहे थे। उन्होंने कहा—"मैं धन्य हूँ, मैं कृतार्थ हुआ कि पूज्य पिताजी ने मुझे स्मरण किया। मैं आज उनकी चरणधूलि सिर पर चढ़ाकर कृतार्थ होऊँगा। आप शीघ्र चलें अब विलम्ब न करें। अहा ! आज मैं अपने उन धर्म-पिता के पाद-पद्मों में प्रणाम करूँगा।" यह कहकर कुमार ने वहीं, भूमि पर लेटकर उनके पिता के निमित्त साष्टाङ्ग प्रणाम किया और वे जैसे बैठे थे वैसे ही तुरन्त उठकर उन नाग कुमारों के साथ चल दिये।

नागकुमार मनुष्य वेष में राजकुमार के समीप आते थे। उन्हें इस बात का अभी तक पता नहीं था कि वे परम शक्तिशाली पाताल में रहने वाले उपदेव हैं, जो इच्छानुसार रूप रख सकते हैं। जिनके फणों पर दिव्य-मणि दमकती है। वे समझते थे गौतमी के पार किसी राजा के ये राजपुत्र हैं। गौतमी तट पर पहुँच कर उन दोनों ने कहा, नदी में तैरकर हम चलेंगे। राजकुमार ने कहा—"अच्छी बात है। वे ज्योंही जल में उतरे त्यों ही नागकुमारों ने अपने योग-प्रभाव से कुमार को खींचकर

कुमार सिर नीचा किये हुए चुपचाप नागराज के चरणों के समीप बैठे थे। नागराज ने उनका संकोच दूर करते हुए कहा—"बेटा देखो, तुम्हारा ही घर है। यहाँ संकोच की बात नहीं। भीतर जाओ, अपनी माता को प्रणाम करो। स्नान आदि से निवृत्त हो, फिर साथ-साथ भोजन करेंगे और तुमसे कुछ प्रेम की बातें करेंगे।" यह कहकर उन्होंने अपने पुत्रों को आज्ञा दी—"कुमार को भीतर ले जाओ भैया!" बहुत अच्छा कहकर कुमारों ने स्वीकार किया। फिर तीनों हँसते-खेलते, हँसी विनोद की बातें करते भीतर गये। माता के पैरों में तीनों पड़ गये। तीनों को ही माता ने बड़े स्नेह से उठाया। उनका मुँह चूमा और प्यार किया। फिर तीनों ने स्नान किया, चन्दन अंगराग लगाया। तब तक प्रसाद तैयार हो गया। पिता के साथ तीनों ने बैठकर सुख पूर्वक भोजन किया। कुमार ने देखा इस घर का कण-कण मुझे प्रेम में नहला रहा है। वे वहाँ प्रेम में सराबोर हो गये। इतना प्रेम उन्हें पहले कहीं भी प्राप्त नहीं हुआ था।

भोजनोपरान्त नागराज अपनी बैठक में एक बहुमूल्य गलीचे पर बैठे। तीनों कुमार भी उनके चरणों में प्रणाम करके बैठ गये। नागराज ने सिर झुकाये कुमार को बलपूर्वक अपने समीप खींचकर, अपनी गोदी में बिठाकर उनके मुँह को थपथपाते हुए कहा—"बेटा! देखो, आज मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि तुम मेरे यहाँ आये हो। तुम्हें जो भी प्यारी वस्तु लगे, वह तुम मुझ से माँग लो।"

सकुचाते हुए कुमार ने कहा—"पिताजी! आप ऐसी बात कर रहे हैं। मुझे माँगने की क्या आवश्यकता है। याचना तो कंगाल करते हैं। दरिद्र के पुत्र हाथ फैलाते हैं। मेरे एक पिता समस्त भूमण्डल का शासन कर रहे हैं। दूसरे पिता पाताल के

पाताल पहुँचा दिया। पाताल में उन्होंने देखा, उनके दोनों मित्रों के मस्तक पर फण लहरा रहे हैं, उनमें दिव्य मणियाँ दमक रही है। वे परम तेजस्वी उपदेव अपनी प्रभा और कान्ति से पाताल को आलोकित कर रहे हैं। राजकुमार उन्हे चकित-चकित दृष्टि से निहार रहे थे। उन्हे अत्यन्त कुतूहल हो रहा था। उन्होंने आश्चर्य भरी वाणी मे कहा—"धन्य भाग! आप तो उपदेव नागकुमार हैं?"

कृतज्ञता के स्वर में नागमित्रो ने कहा—"नहीं हम तो आप के सगे भाई हैं। चलो पिताजी के पास चलें।" यह कहकर नाग-कुमार बडे गौरव से उन्हें अपने मणि-जडित भवन मे ले गये।

नागराज अश्वतर एक परम दिव्य महल मे, एक सुवर्ण सिंहा-सन पर बैठे हुए थे। उसमे असख्यों अमूल्य मणियाँ दम दम करती हुई दमक रही थीं। वहाँ कहीं वीणा की ध्वनि हो रही थी, कहीं मधुर-मधुर पणव का स्वर सुनाई दे रहा था। स्वर्ग से भी बढकर पाताल की शोभा देखकर कुमार भौचक्के से रह गये। नागराज के अपार ऐश्वर्य को देखकर उनकी दृष्टि एक-एक स्थान पर स्थिर नहीं रहती था। उन राजकुमारों ने सिंहासन पर बैठे हुए अपने पिता की ओर सकेत करके कहा—'कुमार ये ही हमारे पूजनीय पिताजी हैं।" और पिताजी से कहा—"पिताजी ये ही हमारे सुहृद् राजकुमार कुवलयाश्व ऋतध्वज हैं।" कुमार ने दौडकर अपना मुकुट से शोभित सिर नागराज के पाद-पद्मों मे रख दिया और उन्हे प्रेमाश्रुओं से भिगो दिया। नागराज ने उठकर बडी कठिनता से राजकुमार को उठाकर छाती से लगाया और वे बडी देर तक उन्हें हृदय से चिपटाये रहे। कुछ प्रेमावेग कम होने पर उन्होंने कुमार के सिर को सूँघा, उनके बालो को सह-लाया, पीठ को थपथपाया और भाँति-भाँति के आशीर्वाद दिये।

कुमार सिर नीचा किये हुए चुपचाप नागराज के चरणों के समीप बैठे थे। नागराज ने उनका संकोच दूर करते हुए कहा—"बेटा देखो, तुम्हारा ही घर है। यहाँ संकोच की बात नहीं। भीतर जाओ, अपनी माता को प्रणाम करो। स्नान आदि से निवृत्त हो, फिर साथ-साथ भोजन करेंगे और तुमसे कुछ प्रेम की बातें करेंगे।" यह कहकर उन्होंने अपने पुत्रों को आज्ञा दी—"कुमार को भीतर ले जाओ भैया!" बहुत अच्छा कहकर कुमारों ने स्वीकार किया। फिर तीनों हँसते-खेलते, हँसी विनोद की बातें करते भीतर गये। माता के पैरों में तीनों पड़ गये। तीनों को ही माता ने बड़े स्नेह से उठाया। उनका मुँह चूमा और प्यार किया। फिर तीनों ने स्नान किया, चन्दन अंगराग लगाया। तब तक प्रसाद तैयार हो गया। पिता के साथ तीनों ने बैठकर सुख पूर्वक भोजन किया। कुमार ने देखा इस घर का कण-कण मुझे प्रेम में नहला रहा है। वे वहाँ प्रेम में सराबोर हो गये। इतना प्रेम उन्हें पहले कहीं भी प्राप्त नहीं हुआ था।

भोजनोपरान्त नागराज अपनी बैठक में एक बहुमूल्य गलीचे पर बैठे। तीनों कुमार भी उनके चरणों में प्रणाम करके बैठ गये। नागराज ने सिर झुकाये कुमार को बलपूर्वक अपने समीप खींचकर, अपनी गोदी में बिठाकर उनके मुँह को थपथपाते हुए कहा—"बेटा! देखो, आज मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि तुम मेरे यहाँ आये हो। तुम्हें जो भी प्यारी वस्तु लगे, वह तुम मुझ से माँग लो।"

सकुचाते हुए कुमार ने कहा—"पिताजी! आप ऐसी बात कर रहे हैं। मुझे माँगने की क्या आवश्यकता है। याचना तो कंगाल करते हैं। दरिद्र के पुत्र हाथ फैलाते हैं। मेरे एक पिता समस्त भूमण्डल का शासन कर रहे हैं। दूसरे पिता पाताल के

राना हैं। मैं ना दोना का सम्पति का अधीश्वर हूँ। मैंने आज क्य। नहीं पाया। अपने मुकुट से जो आपके युगल चरणों का स्पर्श किया, उसी से मेरे सब पाप धुल गये। मानो मैंने तीनों भुवन का राज्य पा लिया।"

हँसते हुए नागराज ने कहा—"नहीं भया! आज मुझे तुम्हें कुछ देना है। इन मणियो में से जो तुम्हें प्रिय लगे, उन्हें तुम छाँट लो।"

कुमार ने कहा—"पिताजी! आपकी आज्ञा तो शिरोधार्य ही है, किन्तु मणियाँ तो आपके पृथ्वी के घर में भी पर्याप्त हैं। देवता होकर भी आपने मेरे सिर को सूँघा और मुझे अपने हृदय से लगाया, क्या यह करोड़ों मणियो से बढकर मेरा आदर नहीं है?"

नागराज हँस पड़े और बोले—"अच्छा, वस्त्र, आभूषण, जो चाहो माँग लो।"

कुमार बोला—"अब मैं क्या कहूँ, जो आप दें वही लूँगा।"

अश्वतर बोले—"नहीं भाई, देना नहीं। तुम्हे जिसकी इच्छा हो, वह कहो। धन, रत्न, वाहन, वस्त्र, आभूषण नहीं लेते तो सुन्दरी-सी बहू लोगे?"

यह सुनकर कुमार लज्जित हुए, उन्होंने सकोच से सिर नीचा कर लिया। तब नागराज के पुत्रों ने कहा—"हाँ, पिताजी! इनकी एक पत्नी मदालसा थी। यदि उसे आप किसी तरह दे सकें तो दे दें, उसे पाकर ये परम प्रसन्न होंगे।"

हँसते हुए नागराज ने कहा—"हाँ, दे क्यों नहीं सकते। किन्तु, ये अपनी पत्नी को पहचान भी लेंगे?"

कुमारों ने शीघ्रता से कहा—"हाँ, पिताजी! अवश्य पहचान लेंगे।" फिर कुमार से बोले—"क्यों जी, तुम अपनी बहू को

पहचान लोगे न ?" कुमार अत्यन्त आश्चर्य और कुतूहल के साथ नागराज और कुमारों की ओर देखकर हँस पड़े। उसी समय नागराज ने पुकारा—"मदालसा ! बेटी मदालसा।"

इस शब्द को सुनते ही छमछम करती हुई एक अत्यन्त सुन्दरी युवती भीतर के परदे को हटाकर निकली। राजकुमार उसे देखते ही बड़े वेग से उसकी ओर दौड़े। बीच में ही नागराज ने उन्हें रोककर कहा—"हैं, यह क्या करते हैं। इतनी उतावली उचित नहीं। पहले मेरी बात सुनो। जब मैं इसे दूँ, तब ग्रहण करना।"

यह सुनकर कुमार लज्जित हुए। उनका सम्पूर्ण शरीर रोमाञ्चित हो रहा था। प्रेमाश्रुओं से उनका मुख भीग रहा था। आनन्द की अधिकता से उनका कण्ठ अवरुद्ध हो रहा था। उन्हे अपने समीप बैठाकर नागराज ने आदि से अन्त तक सब कथा सुनाई। उसे सुनकर कुमार परम प्रसन्न हुए। तब विधिवत् उन्होंने मदालसा को ग्रहण किया। उन्होंने ज्यों ही अपने अश्व को स्मरण किया, त्यों ही वह हिनहिनाता हुआ उनके समीप आ गया।

नागराज ने मदालसा और कुमार का अत्यधिक स्वागत-सत्कार किया। उन दोनों को बहुमूल्य वस्त्राभूषण और मणि-रत्न प्रदान किये। नागराज की दी हुई उन सभी वस्तुओं को लेकर तथा उनके पाद-पद्मों में प्रणाम करके मदालसा को घोड़े पर चढ़ाकर कुमार पुनः पाताल से पृथ्वी पर आये। नगर-निवासियों ने जब मदालसा के साथ राजकुमार को देखा, तो उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। घर-घर उत्सव होने लगे। सभी आनन्द में विभोर होकर नाचने लगे। सूत, मागध, वन्दी स्तुति करने लगे। माता-पिता ने जब इस समाचार को सुना तो वे प्रेम के आवेग में बेसुध हो गये। मदालसा को माता ने बार-बार छाती में लगाया। उसे अनेक-अनेक आशीर्वाद दिये। मदालसा ने भी अपनी सास तथा श्वसुर के पैर छुए। उस समय उन्हें जो प्रसन्नता हुई वह अवर्णनीय थी। लेखनी उसे व्यक्त करने में सर्वथा असमर्थ है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कुछ काल के पश्चात् महाराज शत्रुजित् परलोकवासी हुए। तब प्रजा के लोगों ने कुवलयाश्व ऋतध्वज को राजा बनाया। महाराज ऋतध्वज धर्म पूर्वक पृथ्वी का पालन करते रहे। कालान्तर में ब्रह्मवादिनी मदालसा देवी

के गर्भ से विक्रान्त, सुबाहु, शत्रुमर्दन और अलर्क ये चार पुत्र हुए। इनमें से प्रथम तीन तो माता के उपदेश से गृह-त्यागी विरागी बाबाजी बन गये, केवल महाराज अलर्क गृहस्थ हुए। अन्त में वे भी त्यागी बन गये।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा "सूतजी! मदालसा देवी ने अपने पुत्रों को कैसा उपदेश दिया जिससे सब के सब गृहत्यागी विरागी बन गये? महाराज अलर्क कैसे गृही बने और कैसे उन्हें अन्त में ज्ञान हुआ? कृपया मदालसा देवी और महाराज अलर्क के सम्बन्ध में हमें विस्तार से बतावें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! अब मैं, मदालसा देवी ने अपने पुत्रों को कैसे ज्ञानोपदेश दिया तथा उनके सबसे छोटे पुत्र अलर्क कैसे गृही बनकर अन्त में ज्ञानी हुए इस प्रसङ्ग को सुनाता हूँ। आप सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

*नाग अश्वतर पुत्र ऋतध्वज के प्रेमी अति।*
*करिबे प्रत्युपकार करी सुत पितु मिलि सम्मति॥*
*पितु मदालसा फेरि तपस्या करि प्रकटाई।*
*कुमर पताल बुलाइ प्रिया फिरि तिननि मिलाई॥*
*पाइ परस्पर प्रिया प्रिय, अति प्रसन्न दोऊ भये।*
*पितु प्रयाण सुरपुर करयो, भूप ऋतध्वज है गये॥*

-

# महाराज अलर्क की कथा

[ ७४६ ]

षष्टिं वर्ष सहस्राणि षष्टिं वर्ष शतानि च।
नालर्कादपरो राजन्मेदिनीं बुभुजे युवा ॥*

(श्री० भाग० ६ स्क० १५ अ० ७ श्लो०)

छप्पय

*सुत मदालसा जने चारि ज्ञानी ते सबई।*
*तीन त्यागि घर गये नृपति लखि बोले तबई॥*
*चौथे कूँ मति मोक्ष धर्म को पाठ पढाओ।*
*गृही धर्म की सीख देहु निज वंश चलाओ॥*
*सुत अलर्क राजा करे, धर्म प्रवृत्ति सिखाइकें।*
*गुप्त मन्त्र दै बन गई, बन्धु प्रबोधे आइकें॥*

संतानों को योग्य अथवा अयोग्य बनाना अधिकांश माताओं के ही हाथ में है। माता चाहे तो सन्तान को योग्य से योग्य बना सकती है और यदि वह चाहे तो उसे अधम से अधम बना सकती है। उत्तम विचार की माता की संतति उत्तम विचार की होगी, और अधम विचार की माता की संतति अधम विचार

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज अलर्क के अतिरिक्त किसी भी अन्य राजा ने छियासठ सहस्र वर्षों तक युवा रहकर इस पृथ्वी के राज का भोग नहीं किया।"

की। वैसे इसके अपवाद भी देखे गये है, किन्तु साधारण नियम यही है। बालकों का हृदय अत्यन्त कोमल होता है, वह गीली मिट्टी के समान होता है, उससे चाहे जैसी आकृति बना लो। वह सूखने पर कड़ी हो जाती है, फिर बिना फिर से तोड़े-गलाये उसमें परिवर्तन होना कठिन है। छोटे पौधे की डाली को जिधर चाहे मोड़ दो। डाली बड़ी होने पर टूट भले ही जाय, मुड़ेगी नहीं। कच्चे आटे की मोटी, पतली, छोटी, बड़ी—जैसे चाहो—रोटी बना सकते हो। परिपक्व होने पर उसमें परिवर्तन अत्यन्त कठिन है। इसी प्रकार बाल्य-काल के संस्कार ही स्थाई हो जाते है। बड़े होने पर उनका छूटना कठिन है। माता जिन बातों के लिये प्रोत्साहन देगी, बच्चा उन्हीं बातों को करेगा। कोई बच्चा बालकपन में किसी की वस्तु उठा लाया। माता ने उस बच्चे की उस बात का अभिनन्दन किया। अब तो वह प्रोत्साहन पाकर नित्य वस्तुएँ चुराकर लाने लगा। बड़ा होने पर वह नामी चोर हुआ, राजा के यहाँ चोरी की, पकड़ा गया, फाँसी की आज्ञा हुई। अन्त समय उससे पूछा गया—"तुम किसी से मिलना चाहते हो?" उसने माँ से मिलने की इच्छा प्रकट की। माँ से उसे मिलाया गया। कुछ बात कहने के मिस उसने माँ का कान काट लिया। माँ रोने लगी। लोग आश्चर्य-चकित हो गये। तब उसने कहा—"प्रथम-प्रथम जब मैंने चोरी की थी, यदि मेरी माँ उसका अभिनन्दन न करती, तो आज मैं क्यों चोर बनता? क्यों मुझे फाँसी होती?"

इस दृष्टान्त से यही सिद्ध होता है कि सन्तान को अच्छा और बुरा बनाना माता की शिक्षा के ही ऊपर अवलम्बित है। अक्षर-ज्ञान का नाम ही शिक्षा नहीं है। पुस्तक विद्या को ही विद्या नहीं कहते। यथार्थ विद्या तो वही है, जो हमें मुक्ति-पथ की

ले जाय। मोक्ष-ज्ञान पोथी-पत्रों से नहीं होता, यह तो सत्संग द्वारा संस्कारों से प्राप्त होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे महारानी मदालसा और उनके पुत्रों की कथा पूछी थी। उनके सबसे छोटे पुत्र अलर्क थे। महाराज अलर्क की कथा में ही ये सब प्रसङ्ग आ जायेंगे।"

मदालसा के पति महाराज ऋतध्वज या कुवलयाश्व धर्म पूर्वक पृथ्वी का पालन करते रहे। सर्वप्रथम उनके एक पुत्र हुआ। राज्य भर में आनन्द मनाया गया। महाराज ने उसका नाम रखा 'विक्रान्त'। इस नाम को सुनकर महारानी मदालसा बहुत हँसी।

राजा ने पूछा—"देवि! तुम हँसी क्यों?"

मदालसा ने कहा—"महाराज! मैं नाम सुनकर हँसी।"

राजा ने कहा—"क्षत्रिय का नाम तो इसी प्रकार शौर्य-वीर्य प्रकाशित करने वाला होना चाहिये।"

यह सुनकर मदालसा ने कुछ नहीं कहा। वे बच्चे को गोद में लेकर खिलाने लगीं। बच्चा जब रोता, तब वे लोरियाँ देती हुई कहतीं—"तू शुद्ध है, बुद्ध है, निरञ्जन है, संसार की माया से रहित है। यह विक्रान्त कल्पित नाम तो तेरे शरीर का है। तेरा इस शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं। तू रो मत।"

"अथवा रुदन भी मिथ्या है, यह तो शब्द मात्र है, इसमें अच्छाई-बुराई क्या। लोग कहते हैं, तू बढ़ रहा है। वास्तव में बढ़ता तो शरीर है। तुझ शुद्ध, बुद्ध आत्मा में वृद्धि नहीं, ह्रास नहीं। तू इस मिथ्या-शरीर में अपनापन स्थापित करके मोह मत करना। ये जो सांसारिक सम्बन्ध हैं, मिथ्या हैं। इनमें मत फँस जाना। मेरे जिन स्तनों का तू प्रेमपूर्वक पान कर रहा है, ये मांस की ग्रंथिमात्र हैं। उन्हीं में रस बनकर, दूध होकर, इनसे

निकलता है। इन्हें तू सुख का स्थान मत समझना। यह तो सब प्रकृति के विकार हैं। संसार की सभी वस्तुएँ पंचभूतों से निर्मित हैं। उसी प्रकार तेरी यह देह भी। इस देह में तथा अन्य पदार्थों

में तत्त्वतः कोई भेद नहीं। तू सब में समान बुद्धि रखना।" इस प्रकार नित्य ही बालक को माँ खिलाते-पिलाते परमार्थ का उपदेश देती, उन्हीं भावों को अपने दुग्ध के साथ पिलाती। फिर मदालसा

के गर्भ से द्वितीय पुत्र हुआ। उसका नाम राजा ने सुबाहु रखा। सुबाहु नाम को सुनकर भी ब्रह्मवादिनी मदालसा हँसने लगी। उसको भी उसने ब्रह्मज्ञान की वैसी ही शिक्षा दी। वह भी बड़ा ज्ञानी और विवेकी हुआ जब तृतीय पुत्र उत्पन्न हुआ, तब राजा ने उसका शत्रुमर्दन नाम रखा। इस नाम को सुनकर रानी बहुत हँसी।

तब राजा ने कहा—"देवि! मैं कैसे सुन्दर सुन्दर नाम रखता हूँ तुम इन नामों को सुनकर हँसती क्यों हो?"

हँसकर मदालसा ने कहा—'महाराज! कौन शत्रु? कौन मित्र? आत्मा तो एक—अद्वितीय है, उसमें तो शत्रु मित्र का भेद भाव है ही नहीं। अब रहा शरीर। सो, वह तो अनित्य है, क्षण भंगुर है, जड़ है। उसमें शत्रुता मित्रता बन नहीं सकती।"

राजा बोले—"अच्छी बात है, अब के जो पुत्र हो उसका नामकरण तुम ही करना।"

रानी ने इस बात को स्वीकार किया। कालान्तर में चतुर्थ पुत्र का जन्म हुआ। राजा के कहने से रानी ने उसका नाम रखा 'अलर्क'। इस नाम को सुनकर इस बार राजा हँस पड़े और बोले—"यह निरर्थक नाम तुमने बच्चे का किस कारण रखा?"

मदालसा ने कहा—"नाम तो सभी निरर्थक ही हैं। नामों का क्या अर्थ? नाम रूप दोनों ही मिथ्या हैं। पचभूतों का एक पिण्ड है, व्यवहार के लिये उसका एक नाम रख लेते हैं। कोई-सा नाम क्यों न हो! आपने जो नाम रखे हैं, वे भी तो निरर्थक ही हैं। बच्चे बालू के पिण्ड बनाते हैं, किसी का नाम लड्डू रखते हैं, किसी का पेड़ा। ये सभी निरर्थक ही हैं। उन सब में बालू ही बालू है। इसी प्रकार आत्मा सर्वव्यापक है, वही विभु है। वही एक सर्वत्र व्यापक है। आपने अपने तीन पुत्रों के नाम विक्रान्त, सुबाहु

और अरिमर्दन रखे हैं। ये शरीर के नाम हैं या आत्मा के। शरीर के हैं, तो भी मिथ्या हैं; क्योंकि शरीर में विशेष गति, बाहु-सौन्दर्य, दुष्टदमन करने की शक्ति है नहीं, कारण कि वह जड़ है। यदि आत्मा के नाम हैं तो भी निरर्थक हैं। आत्मा तो सर्वव्यापक है। उसकी विशेष गति क्या होगी? आत्मा में सुरूपता-कुरूपता का भेद ही नहीं फिर उसकी बाहु सुरूप कैसे होगी। आत्मा का कोई शत्रु नहीं फिर उसका शत्रु-मर्दन नाम निरर्थक ही है। जैसे ये सब नाम निरर्थक हैं, वैसे ही अलर्क नाम भी निरर्थक है।"

अब तो राजा समझ गये कि मेरी पत्नी ब्रह्मवादिनी योगिनी है। उन्होंने रानी से विनय पूर्वक कहा—"तुमने मेरे तीनों पुत्रों को तो ब्रह्मज्ञानी बना दिया। अब वे गृहस्थाश्रम को स्वीकार क्यों करेंगे? कृपा करके मेरे इस चौथे पुत्र को ऐसा उपदेश दो, जिससे यह गृहस्थ धर्म का अनुगमन करे। वंश-परम्परा को अक्षुण्ण रखना भी तो धर्म है। वंश-विच्छेद न होने पावे, इसलिये एक पुत्र को तो तुम प्रवृत्ति-मार्ग का उपदेश दो ही।"

मदालसा ने कहा—"अच्छी बात है, इसे मैं प्रवृत्ति-मार्ग का ही उपदेश दूँगी।"

अब मदालसा प्रथम पुत्रों की भाँति कुमार अलर्क को संसार से वैराग्य लेने का उपदेश न देकर, उसे खिलाती हुई कहने लगी— "बेटा! तुम धन्य हो, तुम इस समस्त वसुन्धरा के शत्रुहीन एकमात्र अधीश्वर होगे। तुम धर्म करके ही मोक्ष-मार्ग की ओर अग्रसर होगे। तुम देवता, पितर, ऋषि, अतिथि-अभ्यागतों का सदा सेवा-सत्कार करना, प्रजा का पुत्रवत् पालन करना; यज्ञों के द्वारा देवताओं की, श्राद्ध तर्पण द्वारा पितरों की और आतिथ्य सत्कार द्वारा अतिथियों की सेवा करना। बाल्यकाल में बन्धुओं के अधीन, कुमारावस्था में गुरुजनों के, और युवावस्था में कुलीन

धर्मात्मा सदाचारी ब्राह्मणों के, और वृद्धावस्था में वन में रहकर अग्निय ब्रह्मनिष्ठ तपस्वियों के अधीन तुम रहना। प्रजा-पालन में तुम प्रमाद न करना, परदाराओं में मातृ बुद्धि रखना और समस्त व्यवहार धर्म पूर्वक करना।" इस प्रकार माता नित्य ही पुत्र को उपदेश देती।

शनः शनः कुमार अलर्क बड़े हुए। तब वे माता के पैर पकड़ कर उनसे सभी विषयों की शिक्षा ग्रहण करते। सभी शास्त्रों में पारंगता योगिनी मदालसा अपने पुत्र को सदा सदुपदेश देती रहती। उसने कुमार अलर्क को राजनीति का, वर्णाश्रम धर्म का, गृहस्थ के कर्तव्यों का, श्राद्ध की समस्त विधियों का, गृहस्थोचित सदाचार का और त्याज्य ग्राह्य, द्रव्यशुद्धि, अशौच तथा कर्तव्या कर्तव्य का भली भाँति उपदेश दिया।

इस प्रकार माता से उपदेश पाकर कुमार अलर्क सभी विषयों में निष्णात हो गये। उन्होंने विधिवत् वैदिक विधि से अपना विवाह किया और बहुत से पुत्रों को उत्पन्न किया। इधर महाराज ऋतध्वज भी राज्य करते-करते वृद्ध हो गये थे। कुमार अलर्क राज्य-भार सम्हालने के योग्य हो गये थे। अतः वे राज-पाट पुत्र को सौंपकर अपनी पत्नी के संग वन जाने के लिये उद्यत हुए। माता-पिता को वन जाते देखकर स्नेहवश महाराज अलर्क का हृदय भर आया और वे बच्चों की भाँति रुदन करने लगे। तब माता ने उन्हें प्रेम पूर्वक हृदय से लगाते हुए कहा—"वत्स! अधीर होने की कोई बात नहीं। तुम धर्म पूर्वक पृथ्वी का पालन करना। कभी कुपथ की ओर पैर न बढ़ाना, धर्मरूप भगवान् तुम्हारा कल्याण करेंगे। यदि तुम पर दैवयोग से शत्रुओं द्वारा अथवा अन्य किन्हीं कारणों से कोई विपत्ति आ जाय, तो मेरी दी हुई इस अँगूठी में रेशमी वस्त्र पर, अति सूक्ष्म अक्षरों में जो

उपदेश लिखा है, उसे पढ़ लेना। उसके पढ़ने से तुम्हारा दुःख दूर होगा।" ऐसा उपदेश देकर तथा उस सुवर्ण की अँगूठी को अपने पुत्र को प्रदान करके मदालसा अपने पति के साथ वन को चली गई। वहाँ वह अपने पति के साथ तपस्या करती हुई अन्त में पति सहित परमपद को प्राप्त हुई।

इधर महाराज अलर्क गंगा-यमुना के पवित्र संगम पर, यमुना के दक्षिण तट पर—जहाँ देवऋषि सदा निवास करते हैं, उस देव ऋषि (देवरख) के समीप अपने नाम से अलर्क पुर (अरैल) नगर बसाकर पृथ्वी का धर्म पूर्वक पालन करने लगे। वे छियासठ सहस्र वर्ष तक इस पृथ्वी पर राज-सुख भोगते रहे।

इनके बड़े भाई, जो वन में रहकर तपस्या करते थे, उनमें से सुबाहु इनसे अत्यन्त स्नेह रखते थे। उन्होंने सोचा—"मेरा छोटा भाई क्या सदा विषयों में ही फँसा रहेगा? क्या यह इसी प्रकार राज-सुख भोगता हुआ इस संसार से चला जायगा। अज्ञानियों की भाँति इसे पुनः-पुनः जन्म मरण के चक्कर में ही फँसा रहना होगा? माता मदालसा का दूध जिसने पिया है, उसे फिर दूसरी माता का दूध पीना पड़े, यह उचित नहीं। यदि इसे मैं वैसे उपदेश दूँ, तो इस पर कुछ प्रभाव न पड़ेगा। किसी प्रकार इस पर विपत्ति पड़े, तब इसे वैराग्य हो।" यही सोचकर वे काशिराज महाराज के समीप गये और बोले—"राजन्! मेरे भाई अलर्क ने मेरा राज्य ले लिया है। आप मेरी सहायता करें, उससे मेरा राज्य दिला दें।"

काशिराज ने ऋतध्वज कुमार सुबाहु की प्रार्थना स्वीकार की। उन्होंने महाराज अलर्क के पास सन्देश भेजा—"या तो तुम अपना राज्य सुबाहु को दे दो, या हम तुम्हें युद्ध में हराकर तुम्हारा सर्वस्व छीनकर सुबाहु को दे देंगे।"

इसके उत्तर मे महाराज अलर्क ने दूत द्वारा काशिराज को संदेश भेजा—"मेरे सभी बड़े भाई मेरे पूजनीय हैं। वे मेरे समीप आकर मुझसे राज्य माँग लें, मैं उन्हें सर्वस्व देकर वन मे जा सकता हूँ। किन्तु भय दिखाकर कोई मेरे ऊपर शासन करे, आज्ञा दे, यह मुझे सह्य नहीं। मैं भय के कारण, एक हाथ भी भूमि न दूँगा।"

यह उत्तर सुनकर काशिराज ने महाराज अलर्क के ऊपर चढाई कर दी, उनके अन्य मण्डलीक राजाओं को जीतकर उनके पुर को चारों ओर घेर लिया। राजा कुछ सैनिकों के साथ अपने किले में एक प्रकार बन्दी बन गये। काशिराज के सैनिकों ने इनका भोजन-पानी भी बन्द कर दिया। भीतर दुर्ग मे सेना भी कम थी। और युद्धोपयोगी सामग्री भी नहीं थी। अब तो राजा को बडी चिन्ता हुई। अपने को अत्यन्त संकट में पड़ा देखकर अब उन्हें अँगूठी की याद आई। तुरन्त उन्होंने अँगूठी को तोड़ कर उसमें रखे हुए वस्त्र को निकाला। उसमें अत्यन्त छोटे अक्षरों में ये दो श्लोक लिखे थे:—

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम्॥
कामः सर्वात्मना हेयो हातुं चेच्छक्यते न सः।
मुमुक्षां प्रति तत्कार्यं सैव तस्यापि भेषजम्॥

अर्थात् सङ्ग का सब प्रकार त्याग करना चाहिये, यदि सर्वथा त्याग न किया जा सके, तो सत्पुरुषों का सङ्ग करना चाहिये, क्योंकि सज्जनों का सङ्ग ही संसार से आसक्ति हटाने की औषधि है। कामना का सर्वथा त्याग करना चाहिये, यदि सर्वथा त्याग न हो, तो मुक्ति की इच्छा की कामना करनी चाहिये, क्योंकि मुमुक्षा समस्त कामनाओं को नाश करने की औषधि है।

इन श्लोकों को उन्होंने बार-बार पढ़ा। जितनी ही बार वे इन्हें पढ़ते, उतनी ही बार उन्हें अधिकाधिक आनन्द आता।

ज्यों-ज्यों इनके अर्थ का विचार करते, त्यों-त्यों उन्हें शांति मिलती। अब उन्हें मुक्ति की कामना जाग्रत हुई। उसकी पूर्ति सत्सङ्ग से हो सकती है। अतः वे एक गुप्त मार्ग से भगवान् दत्तात्रेय के समीप गये। अत्रिनन्दन भगवान् दत्त प्रभु ने इन्हें सच्चा जिज्ञासु समझकर ज्ञान का उपदेश दिया। सद्गुरु के ज्ञानरूप अंजन के लगाते ही इनका अज्ञान-तिमिरान्ध नष्ट हो गया। इन्हें संसार के सभी पदार्थ अनित्य, क्षणभंगुर और परिणाम में दुःखदायी प्रतीत होने लगे। उन्होंने सद्गुरु के पादपद्मों में प्रणाम किया और कृतार्थ होकर उस स्थान में आये, जहाँ काशिराज और उनके भाई सुबाहु बैठे थे। आते ही महाराज अलर्क ने कहा—"राजन्! अब आप चाहें तो मेरे समस्त राज्य का स्वयं उपभोग करें या मेरे ज्येष्ठ भ्राता सुबाहु को दे दें।"

काशिराज ने आश्चर्य-चकित होकर पूछा- "राजन्! आप में इतना परिवर्तन कैसे हुआ? क्षत्रिय का तो यह धर्म नहीं है! उसे या तो शत्रु से युद्ध करके विजय प्राप्त करनी चाहिये, अथवा सम्मुख संग्राम में हँसते-हँसते प्राणों का परित्याग करना चाहिये। शत्रु के सम्मुख दीन होकर आत्म समर्पण करना कायरता है, नीचता है, दुर्बलता है, हृदय की क्षुद्रता तथा नपुंसकता है।"

हँसते हुए महाराज अलर्क ने कहा—"राजन! अब ये मिथ्या बातें मुझ में मिथ्याभिमान उत्पन्न नहीं कर सकतीं। अब तो मेरा कोई शत्रु संसार में रहा ही नहीं। जब कोई शत्रु ही नहीं, तो विजय किस पर करूँ। अब तो भगवान् दत्त प्रभु की कृपा से मेरा अज्ञानान्धकार दूर हो गया है। अब मेरे शत्रु, मित्र, उदासीन—कोई रह नहीं गये। अब तो मैं सब में एक आत्मा

को देखता हूँ और अपने आप में चराचर भूतों को अनुभव करता हूँ। अब शोक, मोह मेरे पास फटक भी नहीं सकते।"

इतना सुनते ही अलर्क के बड़े भाई सुबाहु ने दौड़कर अपने छोटे भाई का आलिंगन किया और काशिराज से बोले—"राजन्! अब आप जायँ। मैं कृत कार्य हो चुका। जिस कार्य के लिये मैं आपकी सहायता को आया था, वह पूर्ण हो गया।"

काशिराज ने और भी आश्चर्य प्रकट करते हुए पूछा—"आप किस कार्य के लिये आये थे?"

सुबाहु ने कहा—"मैं अपने भाई अलर्क को राज सुखों में आसक्त देखकर उसे उसके यथार्थ स्वरूप का बोध कराने आया था। हम तीनों भाई तो तत्वज्ञानी हैं, किन्तु यह हमारा भाई तत्वज्ञ होकर भी सांसारिक भोगों में फँसा था। मैंने सोचा—"जब तक इस पर दुःख न पड़ेगा तब तक इसे मोक्ष की इच्छा उत्पन्न न होगी। जब तक मोक्ष की इच्छा नहीं होती, तब तक मनुष्य सत्सङ्ग में जाता नहीं। अब इसने भगवान् दत्तात्रेय से मोक्षधर्म की दीक्षा ले ली। मैं कृतकार्य हो गया। मुझे राज-पाट लेकर क्या करना है? मैं राज्य लेने की इच्छा से नहीं आया था, अपितु राज्य-बन्धन से अपने भाई को छुड़ाने आया था!"

यह सुनकर काशिराज ने महात्मा सुबाहु के पैर पकड़ लिये और कहा—"महात्मन्! आपने अपने भाई का तो उद्धार कर दिया। मैंने भी तो आपकी आज्ञा का पालन किया है, मैं भी तो आपको शरण आया हूँ, मेरा उद्धार आप कब करेंगे?"

सुबाहु ने कहा—"राजन्! त्रिवर्ग तो आप को प्राप्त ही है। केवल मोक्ष ज्ञान से आप वञ्चित हैं। सो आप अहंता-ममता का त्याग कर दीजिये। मैं यह हूँ, यह मेरा है, इस अभिमान के त्यागते ही आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जायगी।" इस प्रकार काशि-

राज को अनेक प्रकार के उपदेश देकर और अपने छोटे भाई अलर्क से सत्कृत होकर महात्मा सुबाहु अरण्य को चले गये। इधर काशिराज भी अलर्क से पूजित और सम्मानित होकर सेना-सहित अपनी नगरी को लौट गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज अलर्क के बहुत से पुत्र थे। उन सब में बड़े 'सन्तति' थे। भगवान् दत्तात्रेय जी के द्वारा ज्ञान प्राप्त होने के अनन्तर महाराज अलर्क ने अपने सबसे बड़े पुत्र सन्तति को राज सिंहासन पर बिठाया। राज-पाट उसे देकर पत्नी सहित वे तपस्या करने वन में चले गये। वहाँ उन्होंने गुरु के बताये हुए योग-मार्ग का अभ्यास किया। अभ्यास करते-करते उन्होंने निर्विकल्प समाधि की अवस्था प्राप्त कर ली। उस अनुपम सम्पत्ति को पाकर वे परमनिर्वाण-पद को प्राप्त हुए। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में महाराज अलर्क का चरित सुनाया। अब उनकी संतति का वृत्तान्त सुनिये।"

**छप्पय**

*सेना-सहित सुबाहु काशिराजा सँग आये।*
*पुर अलर्क को घेरि लयो नृप अति घबराये॥*
*दत्तात्रेय समीप गये माँ मंत्र मानिकें।*
*पाइ ज्ञान सम भाव दिखायो रिपुहि आनिकें॥*
*लखि अलर्क कूँ बोधयुत, काशिराज निजपुर गये।*
*पायो पनि निर्वाण-पद, तिन सुत-सन्तति नृप भये॥*

मरणधर्मा राजा को इन्द्र ने स्वर्ग का राज्य क्यों सौंप दिया ? महाराज रजि ने ऐसा इन्द्र का कौन-सा उपकार किया था ?"

इस पर सूतजी बोले—"अजी महाराज ! संसार में सब स्वार्थ का खेल है। स्वार्थ के लिये गधे को भी बाप बनाना पड़ता है और स्वार्थ न हो, तो लोग पिता को भी नहीं पूछते।" देवता और असुरों में तो सनातन का वैर है ही। आप जानते ही हैं कि शारीरिक बल में सदा असुर भारी पड़ते हैं। देवताओं को सदा उनसे हारना पड़ता है। देवताओं के पास एक भगवान् का ही बल है। उन्हीं के सहारे वे अपने स्वर्ग को बचाये रहते हैं। एक बार देवताओं और असुरों में भयंकर युद्ध होने का समय आ गया। सब को निश्चय हो गया, कि अब घनघोर युद्ध होगा। युद्ध के पूर्व देवता और असुर मिलकर लोक-पितामह ब्रह्माजी के पास गये और दोनों ने ही विनय के साथ पूछा—"प्रभो ! इस संग्राम में विजय किसकी होगी ?"

ब्रह्माजी तो दूरदर्शी ठहरे। वे बड़ी युक्ति से उत्तर देते हैं। वे बोले—"देखो भाई ! जिधर धर्म होता है, उधर ही यश, ऐश्वर्य और विजय भी होती है। आजकल पृथ्वी पर महाराज रजि परम धर्मात्मा हैं, वे भगवान् की उत्तम विभूति हैं। तुम दोनों में से जिस ओर राजा रजि होंगे, उसकी ही विजय होगी।"

इतना सुनते ही बलवान असुर दौड़े-दौड़े महाराज रजि के पास पहुँचे और नम्रता पूर्वक बोले—"राजन् ! आप धर्मात्मा हैं। युद्ध का यह धर्म है कि क्षत्रिय के समीप जो पहले आवे, वह उसी की सहायता करे। देवताओं के साथ हमारा युद्ध होने वाला है, उसमें आपको हमारा ही साथ देना चाहिये।"

महाराज रजि ने कहा - "मुझे स्वीकार है। किन्तु, विजय मिलने पर स्वर्ग का राजा इन्द्र मैं बनूँगा।"

यह सुनकर लोभी असुर उदास हो गये। वे बोले—"तब हमें युद्ध करने से लाभ ही क्या हुआ? जैसा ही शतक्रतु इन्द्र, फिर वैसे ही इन्द्र आप हो जायँगे! हम तो चाहते हैं कि असुरों में श्रेष्ठ प्रह्लाद जी हमारे इन्द्र हों। हम आप को इन्द्र नहीं बना सकते। आप चाहें हमारी सहायता करें, या न करें।" यह कहकर असुर चले गये।

तदन्तर देवता आये। उन्होंने भी राजा से सहायता की प्रार्थना की। उनसे भी राजा ने यही बात कही—"देखो भाई! तुम चाहे भला मानो, या बुरा; मैं तो दूक बात कहने वाला हूँ। लल्लो-चप्पो की बात करना मैं नहीं जानता। सीधी-सच्ची बात यह है कि युद्ध के लिये तो मैं तैयार हूँ किन्तु विजय होने पर इन्द्र मैं ही बनूँगा।"

देवेन्द्र ने कहा—"महाराज! मुझे यह स्वीकार है। आप हमारे अभी से इन्द्र हुए!" यह सुनकर महाराज रजि अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होने असुरों से युद्ध किया। उस युद्ध में रजि के अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा से भयभीत होकर असुर भाग गये। देवताओं की विजय हुई। तब इन्द्र ने हाथ जोड़कर कहा—"राजन्! आज से मैं आपका पुत्र कहलाऊँगा।"

यह सुनकर महाराज रजि हँस पड़े और बोले—"जब तुम हमारे पुत्र ही बन गये, अब तुम स्वर्ग का राज्य करो।" किन्तु, इन्द्र को तो असुरों का खटका लगा हुआ था। वे जानते थे कि ज्यों ही महाराज रजि ने हाथ खींचा, त्यों ही ये असुर आकर हम पर पुनः चढ़ाई कर देंगे। इसलिये देवेन्द्र ने महाराज के पैर पकड़कर कहा—"स्वर्ग के राजा आप ही बने रहें, मैं तो पुत्र बनकर आपके कार्यों की देख-रेख करता रहूँगा।" राजा ने इसे

किन्नर, किंपुरुष, आदि में कहीं भी इन्द्र के योग्य पुरुष नहीं मिला। तब सभी देवता और ऋषियों ने महाराज नहुष को इन्द्र बना दिया। चन्द्रवंश के ये प्रधान राजा हुए। चन्द्र के पुत्र बुध, बुध के पुरूरवा, पुरूरवा के आयु और आयु के ही पुत्र महाराज नहुष थे। अब आप इनके पवित्र वंश का वर्णन सुनें।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—'सूतजी! आयु पुत्र महाराज नहुष का नाम नहुष किस कारण पड़ा? इसका कारण बताकर तब आप नहुष के वंश का वर्णन करें।'

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! पहले आप महाराज नहुष के नहुष नाम पड़ने की कथा को ही श्रवण करें।"

छप्पय

*गये पिता परलोक पचशत राजा बनि कें।*
*सबई है हम इन्द्र कहें शत क्रतु तैं तनि कें॥*
*सुरगुरु ने अभिचार यज्ञ करि भ्रष्ट बनाये।*
*भये धर्मरिपु तुरत इन्द्र यम-सदन पठाये॥*
*इन्द्र-वज्र तैं मरे सब, चल्यो नहीं रजिवंश पुनि।*
*आयु-तनय नृप नहुष को, विशद चरित अब सुनहु मुनि॥*

# नहुष-चरित

## [ ७५१ ]

सङ्कृतिस्तस्य च जयः क्षत्रधर्मा महारथः।
क्षत्रवृद्धान्वया भूपाः शृणु वंशं च नाहुषात् ॥*
(श्री भा० ९ स्क० १७ अ० १८, श्लो०)

छप्पय

दत्त दयो फल आयु नृपति-पत्नी ने खायो।
फल प्रभाव तैं इन्दुमती ने सुत इक जायो॥
नहुष नाम विख्यात हुएड ने ताहि चुरायो।
पाचक राँधन दयो प्रेमवश कुँवर छिपायो॥
मुनि वशिष्ठ पालन कर्यो, बड़े भये रिपु-हनन हित।
चले दैत्य ढिंग जासु को, शिव-पुत्री महँ फस्यो चित॥

विधि के विधान कैसे विचित्र बने रहते हैं? जीव उनके विषय में सोच नहीं सकता। सुख, दुःख, आयु, जाति, सम्बन्ध, कीर्ति, यश, हानि, लाभ—ये सब पहले से ही निश्चित होते हैं। जैसा निश्चय होता है, उसी के अनुसार जीवों की प्रवृत्ति होती

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जयसेन के पुत्र संकृति हुए उसके जय, जय के ही पुत्र महारथी क्षत्रधर्मा हुए ये सब क्षत्रवृद्ध के वंशज हैं। अब नहुष से उत्पन्न हुए राजाओं के वंश का वर्णन सुनो।"

हैं और उसके अनुरूप ही जीव प्रयत्न करते हैं, वैसे ही सब यानिक भी बनते जाते हैं। जिसका जिसके साथ विवाह होना होता है, लाख प्रयत्न करने पर भी वह रुक नहीं सकता, जिस का संयोग जिसके साथ नहीं है, लाखे प्रयत्न करने पर भी वह नहीं हो सकता। सबका सम्बन्ध सबके साथ पहले से ही निश्चित है। जब यही बात है, तब व्यर्थ आशा करनी अनुचित है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने पुरूरवा के पुत्र आयु के सबसे बड़े कुमार नहुष का चरित मुझसे पूछा था। उसे मैं आपको सुनाता हूँ। वह अत्यन्त रोचक और शिक्षाप्रद चरित है। प्रतिष्ठानपुराधीश महाराज ऐल के सबसे बड़े पुत्र आयु थे। वे परम धर्मात्मा, यशस्वी, वीर और पुण्यात्मा थे। उस समय पृथ्वी पर उनके सामान प्रजापालक, ब्राह्मण-भक्त और सर्वप्रिय दूसरा कोई राजा नहीं था। वे सप्तद्वीपवती वसुन्धरा के एकछत्र शासक थे। समस्त भू मण्डल पर उनकी आज्ञा मानी जाती थी। इतना सब होने पर भी उनके कोई सन्तान नहीं थी। उनकी पत्नी का नाम इन्दुमती था। वह सुन्दरी, सुकुमारी, सुशीला और साध्वी थी। वह अपने पति में परमेश्वर बुद्धि रखकर सदा उनकी सभी आज्ञाओं का निरालस्य होकर, पालन करती वह हँसकर बोलती और प्रेम भरी दृष्टि से पति को निहारती। किन्तु सन्तान न होने से वह सदा उदास बनी रहती।"

राजा ने सोचा—"मुझे क्या करना चाहिये? किस उपाय से मेरा दुःख दूर हो? कैसे मुझे पुत्र की प्राप्ति हो? दुःख पड़ने पर साधु ही उसे हटा सकते हैं। अतः मैं चलकर किसी साधु की सेवा करूँ।" यह सोचकर वे किसी साधु की खोज करने लगे। उसी समय उन्होंने सुना—श्री विष्णु के अंशावतार भगवान् दत्तात्रेय यहाँ समीप ही ठहरे हुए हैं। अब तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता

हुई। उन्होंने निश्चय कर लिया—"मैं सेवा द्वारा भगवान् दत्तात्रेय को प्रसन्न करके उनसे पुत्र प्राप्ति का वरदान अवश्य लूँगा।" ऐसा निश्चय करके वे अत्रिनन्दन, अनुसूया नन्दवर्धन, भगवान् दत्त प्रभु के समीप गये। दत्तप्रभु ने अपनी चर्या ऐसी बना रखी थी, कि उसे देखकर सब लोग उनसे घृणा करें, कोई उनके पास न फटके। वे कुत्तों के साथ खाते, मृतक मनुष्य की खोपड़ी में सुरापान करते, मांस खाते और स्त्रियों से सदा घिरे रहते। यह सब उन्होंने माया फैला रखी थी। वास्तव में तो वे शुद्ध, बुद्ध, निरञ्जन और निष्कल थे। महाराज आयु तो जानते थे, ये भगवान् के अवतार हैं, लीला कर रहे हैं। वे सोचते थे—"ये तो सर्व समर्थ हैं, चाहे जैसी लीला करें, हमें तो सदा ईश्वर-बुद्धि से इन की सेवा ही करनी चाहिये।" यही सोचकर वे बिना गुण दोषों का विचार किये श्रद्धा सहित दत्त प्रभु की सेवा करने लगे। दत्त भगवान् कुछ बोलते ही नहीं थे।

जब उन्होंने देखा, इतना विपरीत आचरण करने पर भी राजा को अश्रद्धा उत्पन्न नहीं होती, तब वे बोले - "राजन्! आप ऊसर में बीज क्यों बो रहे हैं? राख में हवन क्यों कर रहे हैं? मुझ आचार हीन की सेवा शुश्रूषा करने से आप को क्या लाभ होगा? हम तो अघोरी हैं, अखाद्य पदार्थ खाते हैं, अपेय पीते हैं, हमारी इन्द्रियाँ हमारे वश में नहीं हैं। देखो, यह स्त्री सदा हमारे साथ रहती है। इसने हमें अपने वशीभूत कर रखा है। तुम जाकर किसी सदाचारी ब्राह्मण की सेवा करो, वहाँ तुम्हारी मनोकामना भी पूरी होगी। हम जैसे आचार विचारहीन प्राणी की सेवा से तुम्हें कुछ भी न मिलेगा।"

महाराज आयु ने कहा—"प्रभो! आप मनुष्य नहीं, ईश्वर हैं। आपके लिये आचार-विचार की आवश्यकता ही क्या है?

आप तो कुछ खाते-पीते ही नहीं, आपके लिये सब अखाद्य है, सब अपेय है। आपके वाम भाग में जो भगवती विराजमान हैं, ये साक्षात् जगदम्बिका लक्ष्मी जी हैं। इनकी सेवा में ये सब अन्य शक्तियाँ हैं। मैं आपकी कृपा से ही आपके स्वरूप को पहचानता हूँ, इसलिये आप मुझे भ्रम में न डालें।"

यह सुनकर दत्त भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, इस मनुष्य की खोपड़ी में सुरा डालकर माँस पकाओ।" इतना सुनते ही महाराज ने भगवान् की आज्ञा का पालन किया। जब मांस पक चुका तब भगवान् ने कहा—"इसे हमारे पास लाओ।" राजा माँस लेकर श्रद्धा सहित भगवान् के समीप गये। राजा की ऐसी भक्ति देखकर भगवान् दत्त उनके ऊपर प्रसन्न हुए और हँसते हुए बोले—"राजन्! तुमने अपने धैर्य, शील, सदाचार और भक्ति से मुझे जीत लिया। अब तुम अपना इच्छित वर मुझसे माँग लो। आज तुम जो भी माँगोगे, वही मैं तुम्हें दूँगा।"

यह सुनकर हाथ जोड़े हुए नम्रतापूर्वक महाराज आयु बोले—"प्रभो! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो एक ऐसा पुत्र दें, जिसे देवता, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व तथा कोई भी जीत न सके। वह इन्द्र के समान पराक्रमी, शूर-वीर और यशस्वी हो।"

इस पर भगवान् दत्तात्रेय बोले—"राजन्! ऐसा ही होगा। तुम्हारे एक नहीं, पाँच पुत्र होंगे! सबसे बड़ा पुत्र भगवान् का अंशावतार और त्रिभुवन में अद्वितीय शूर-वीर, बली और प्रभावशाली होगा। तुम यह फल जाकर अपनी पत्नी को खिलाना। इससे दशवें महीने में तुम्हें पुत्र होगा।" इतना कहकर फल देकर भगवान् दत्तात्रेय तुरन्त वहीं अन्तर्धान हो गये। राजा भी फल लेकर प्रतिष्ठानपुरी में आये और अपनी पत्नी इन्दुमती को उन्होंने वह फल दिया। रानी ने बड़ी श्रद्धा-भक्ति से दत्त भगवान्

का दिया हुआ वह फल खाया। उसके खाने से रानी गर्भवती हुई। गर्भवती होने पर वह नित्य ही दिव्य-दिव्य स्वप्न देखती और अपने पति को सुनाती। महाराज ने अपने कुल-पुरोहित को बुलाकर स्वप्नों का फल जानना चाहा। स्वप्नों का वृत्तान्त सुनकर पुरोहित ने पूछा—"राजन्! दत्त भगवान ने जो फल आपको दिया था, वह आपने क्या किया?"

राजा ने कहा—"भगवन्! उसे तो मैंने अपनी पत्नी को दे दिया। उसने उसे खा लिया। उसी के प्रभाव से तो वह गर्भवती हुई है।"

तब पुरोहित ने कहा—"राजन्! यह उस फल का ही प्रभाव है आप चिन्ता न करें, आपके यहाँ संसार में विख्यात एक पुत्ररत्न होगा। वह भगवान् की कला से ही उत्पन्न होगा। देवता, ऋषि मुनि भी उसकी वन्दना करेंगे। वह मनुष्य होकर भी इन्द्रासन पर इन्द्र बनकर बैठेगा।"

यह सुनकर राजा-रानी को बड़ी प्रसन्नता हुई। वे यत्नपूर्वक गर्भ की रक्षा करने लगे। इधर विप्रचित्ति नामक दैत्य का पुत्र हुण्ठ अपने शत्रु को रानी इन्दुमती के गर्भ में देखकर उसे मारने की घात में इधर-उधर छिपा रहा। वह वेष बदलकर गर्भस्थ बालक को मार डालना चाहता था। दश महीने पूरे होने पर महाराज आयु की सौभाग्यवती महारानी ने एक पुत्ररत्न को जन्म दिया। दैत्यराज हुण्ड तो घात में ही था। वह एक दाई के शरीर में प्रवेश कर गया। वह दाई मलिन रहती थी, पवित्रता का विशेष ध्यान नहीं रखती थी। इसीलिये दैत्य उसकी देह में घुस गया और पैदा होते ही बालक नहुष को लेकर भाग गया।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! आयु-पुत्र महाराज

नहुप तो अभी माता के उदर में ही थे। हुण्ड दैत्य से इनकी शत्रुता किस कारण हो गई ?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज ! सभी प्रकार के लड़ाई-झगड़े और कलह का कारण यह बहू ही है। बहू के पीछे ही सब झंझट होते हैं। जब तक विवाह नहीं होता, माता-पिता अलग दुखी और चिन्तित रहते हैं, वर-वधू अलग छटपटाते रहते हैं किसी से विवाह की बात-चीत होती है, दूसरा उसमे अपनी इच्छा प्रकट करता है, उसकी इच्छा का विघात करता है, तो परस्पर वे लड़ते हैं, विवाह होने पर भी लड़ाई-झगड़ा। मुनियो ! आप ही धन्य हैं, जो इस विवाह-फिवाह के चक्कर मे नहीं फँसे। नहीं तो नोन-तेल-लकड़ी जुटाते-जुटाते ही आपका समग्र बीतता। फिर इस प्रकार निश्चिन्त होकर सहस्त्र वर्षों तक कथा न श्रवण कर सकते। धन और प्रतिष्ठा को भी लोग लड़ाई का कारण बताते हैं। किन्तु ये तो कारण गौण हैं। मुख्य कारण तो काले मूँड वाली ही है। बात यह थी, कि नहुप की बहू से दैत्य-राज हुण्ड विवाह करना चाहता था। वह नहुप को छोड़कर किसी दूसरे को पति बनाना नहीं चाहती थी। वह नहुप के जन्म की प्रतीक्षा मे थी, इसीलिये हुण्ड पैदा होते ही नहुप को मार डालने की घात में घूम रहा था। इसीलिये पैदा होते ही वह मायावी अपनी माया से सद्यःजात नहुप को उठाकर अपनी पुरी में ले गया।"

इस पर शौनकजी बोले—"सूतजी ! आप एक से एक अद्भुत अद्भुत पुण्य कथायें कहते हैं। महाराज नहुप माता के उदर में ही थे, उसके पूर्व ही उनकी बहू कहाँ से आ गई ?"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"अजी, महाराज ! विधि के विधान को कोई भली भाँति जान नहीं सकता। कभी-

कभी तो दुलहा पहले पैदा होता है, तब दुलहिन, और कभी-कभी दुलहिन पहले पैदा हो जाती है, तब दुलहा। देखिये; रेवतीजी आदि सत्ययुग में पैदा हुई और उनके पति बलदेवजी अट्ठाइस चौकड़ी के पश्चात् पैदा हुए। श्रीकृष्ण भगवान् के पुत्र प्रद्युम्न पीछे पैदा हुए, उनकी पत्नी मायावती उनसे बहुत पहले पैदा होकर शम्बरासुर के यहाँ रहती थी। इसी प्रकार महाराज नहुष के जन्म के पहले उनकी पत्नी अशोकसुन्दरी पैदा हो गई थी। इसकी बड़ी ही विचित्र मनोरञ्जक कथा है। इसकी उत्पत्ति अलौकिक ढङ्ग से हुई। यह पार्वती देवी की पुत्री थी।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! पहले आप हमें इसी अद्भुत कथा को सुनावें। तब महाराज नहुष का अग्रिम वृत्तान्त कहें। अशोकसुन्दरी पार्वतीजी की पुत्री कैसे हुई? उसकी उत्पत्ति कहाँ और किस प्रकार हुई? कृपया इसे अवश्य सुनावें। इस प्रसङ्ग को सुनने की हमारी बड़ी इच्छा है।"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज! यह कथा बहुत रसीली है। महात्माओं के सम्मुख ऐसी कथायें कहने में मुझे संकोच होता है। फिर भी आप नहीं मानते, तो मैं इसे कहता ही हूँ। आप सावधान होकर उसे श्रवण करें।"

एक समय की बात है, कि शैलेश-कुमारी भगवती भवानी ने अपने प्राणपति पशुपतिनाथ भूतभावन भगवान् वृषध्वज से कहा—"प्राणेश्वर! मेरी इच्छा सुन्दर-सुन्दर वन-उपवन देखने की है, आप मुझे उत्तम से उत्तम वन दिखावें।"

भोले बाबा तो स्वयं घुमक्कड़ प्रकृति के हैं। उन्हें तो वन-उपवनों में घूमने में बड़ा आनन्द आता है। उन्होंने कहा—"अच्छी बात है, चलो, तुम्हें देवताओं के क्रीड़ा करने योग्य उत्तमोत्तम वन दिखावें।"

यह कहकर भगवान् ने अपने बैल को बुलाया और उस पर पार्वती के सहित बैठकर कैलाश से स्वर्ग की ओर चले। देवताओं के विहार-स्थान, जो चैत्ररथ, वैभ्राजक, तथा सर्वतोभद्र नामक वन हैं, उनमें घूमते फिरते वे इन्द्र के नन्दनवन में पहुँचे। उस वन की शोभा अनुपम थी। उसमें बारहों मास वसन्त निवास करता है। वहाँ शीतल-मन्द-सुगन्ध मलयानिल सदा बहता रहता है। पार्वतीजी उस वन की शोभा देखकर अत्यन्त ही प्रमुदित हुईं। उन्होंने देखा—"वन में माधवी, मल्लिका, मालती, श्वेत यूथिका, सुवर्ण यूथिका अन्यान्य फूलवाली लतायें फैली हुई हैं, अनेक भाँति के पुष्प खिले हुए हैं। असंख्य प्रकार के देव वृक्ष उस वन की शोभा बढ़ा रहे हैं। शाल, ताल, तमाल, परिमल, सिन्धुवार, प्रियाल, कटहल, खरजूर नारिकेल तथा अन्यान्य पवित्र पादप उस उपवन की शोभा बढ़ा रहे हैं। स्थान-स्थान पर अमृत के समान जल वाली पुष्करिणियाँ बनी हुई हैं, जिनमें श्वेत, लाल, नील तथा और भी अनेक प्रकार के रङ्ग बिरंगे कमल खिले हुए हैं। हंस, सारस, जलकुक्कुट तथा अन्यान्य जल जन्तु किलोलें कर रहे हैं। शिवजी पार्वतीजी को सब वृक्षों का परिचय कराते हुए कल्पवृक्ष के समीप पहुँचे। उसकी अनुपम शोभा और पुष्पों की दिव्य गन्ध से प्रभावित होकर पार्वतीजी ने पूछा—"प्राणनाथ! यह किस का वृक्ष है? इसका क्या नाम है?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इसी का नाम है मुग्धता—भोलापन—सब जान-बूझकर भी सरलता के साथ अनजान की भाँति वे कल्पवृक्ष के सम्बन्ध में अत्यन्त कुतूहल के साथ पूछने लगीं। उनके कुतूहल को शान्त करने के निमित्त भगवान् सदाशिव बोले—"प्रिये! यह कल्पवृक्ष है। स्वर्ग में यही सबसे उत्तम वृक्ष माना जाता है।"

"इसकी क्या विशेषता है, प्राणवल्लभ ?"—छोटी बच्ची की भाँति जगज्जननी ने पूछा।

शिवजी ने कहा —"प्रिये ! इसके नीचे बैठकर प्राणी जो भी संकल्प करता है, वह तुरन्त पूर्ण होता है। जो जिस वस्तु की इच्छा करता है, उसे वह तुरन्त प्राप्त हो जाती है।"

आश्चर्य-सा प्रकट करते हुए भगवती बोलीं—"हाँ, ऐसी बात है ! यदि हम कोई कामना करें, तो वह पूरी होगी ?"

आज भोले बाबा भी बालक ही बन गये थे। विनोद ही जो ठहरा। नहीं, जिनके संकल्पमात्र से यह चराचर विश्व उत्पन्न हो जाता है और जिनके भ्रकुटि-विलास से विलीन हो जाता है, उनके लिये कल्पवृक्ष का क्या महत्त्व ? वह क्षयिष्णु कल्पवृक्ष क्या कामना पूर्ण करेगा ? यथार्थ कल्पवृक्ष तो गौरी-शंकर ही हैं। फिर भी उन्हें कुछ क्रीड़ा करनी थी। किसी दुष्ट दानव को मरवाना होगा। उनके विनोद में भी लोक-कल्याण निहित रहता है। अतः वे बोले—"हाँ, हाँ, तुम कोई संकल्प करो, देखें, पूरा होता है या नहीं।"

अब क्या था ! पार्वतीजी बैठ गईं उस कल्पवृक्ष के नीचे और सोचने लगीं—"एक अत्यन्त ही सुन्दरी लड़की इस कल्पवृक्ष से उत्पन्न हो जाय।" इन स्त्रियों को सुन्दर लड़के-लड़की से बढ़कर कोई प्रिय पदार्थ नहीं है। ये जब भी इच्छा करेंगी, प्रायः ऐसी ही करेंगी।

पार्वतीजी के संकल्प करते ही उस वृक्ष से एक अत्यन्त ही सुन्दरी षोडशवर्षीया बालिका निकल कर शनैः-शनैः पार्वतीजी की ओर आने लगी। उसका रूप-लावण्य अनुपम था। पार्वतीजी उस रूप की राशि, सुन्दरता की साकार प्रतिमा को देखकर आश्चर्य-चकित दृष्टि से उसकी ओर निहारती ही रह गईं।

उसका वर्ण तपाये सुवर्ण के समान था, उसके शरीर से सरसिज की सुन्दर सुहावनी सुगन्ध निकल रही थी। उसके ओष्ठ, नख, करतल, पदतल कोमल और अरुण वर्ण के थे। काले-काले घुँघराले बालों से कमल के समान उसका विकसित वदन

अत्यन्त ही सुन्दर था। उसके केश-पाशों में मोती पिरोये हुए थे, मानों नीली घास पर ओसकण पड़े हों। केसर-कस्तूरी से मिश्रित उसका तिलक अत्यन्त ही शोभा पा रहा था, जब वह मन्द-मन्द मुस्कुराती, तो ऐसी लगती, मानों चन्द्रमा की चाँदनी छिटक रही हो। उसके गोल-गोल आरसी से कपोलों

पर कनक के कुण्डल दमक रहे थे, मानों आकाश से विद्युत की छटा छिटक रही हो। उसके अङ्ग-अङ्ग से सौन्दर्य निकलकर दसों दिशाओं को आलोकमय बना रहा था। वह मन्द-मन्द गति से पार्वती-परमेश्वर की ओर ही आ रही थी। उसके पीछे और भी बहुत-सी देव-कन्यायें थीं उन कन्याओं को देखकर पार्वतीजी परम प्रमुदित हुईं। वे पिनाकधृक् शूलपाणि भगवान् शंकर से बोलीं—"प्राणवल्लभ! आपने इस कल्पवृक्ष का जैसा माहात्म्य बताया, वह वैसा ही निकला। देखो, मैंने एक अत्यन्त सुन्दरी कन्या का संकल्प किया था, सो कैसी सुन्दरी यह कन्या उत्पन्न हो गई। यह तो मानों सौन्दर्य-माधुर्य की साक्षात् सजीव प्रतिमा ही है। संसार में वह पुरुष धन्य होगा, जो इसे पत्नी-रूप में वरण करेगा।"

पार्वती जी यह कह ही रही थीं, कि उस कन्या ने लजाते हुए शिवजी और पार्वती जी के पाद-पद्मों में प्रणाम किया तथा हाथ जोड़े हुए विनीत भाव से कोकिल-कूजित कण्ठ से शनैः शनैः रुक-रुककर बोली—"माताजी! मुझे आपने किस कार्य के निमित्त उत्पन्न किया है? मेरे लिये क्या आज्ञा है?"

यह सुनकर हँसती हुई पार्वतीजी बोलीं—"बेटी! मैंने किसी कारण-विशेष से तुम्हें उत्पन्न नहीं किया। वैसे ही कुतूहल वश कल्प-वृक्ष का माहात्म्य जानने के निमित्त मैंने तुम्हें संकल्प से पैदा किया है।"

यह सुनकर वह सुन्दरी कन्या बोली—"तब माताजी! अब मैं क्या करूँ? आप का तो विनोद हुआ, मैं ऐसे अब अपना जीवन कैसे बिताऊँ? किसे पिता-माता बताऊँ? कहाँ रहूँ और......"

पार्वती जी प्रेम-पूर्वक बोलीं—"बेटी! माता-पिता और किसे

बनाओगो ? मैं तेरी माता हूँ, शिवजी तेरे पिता हैं, स्वामी कार्तिकेय षडानन और गणेश तेरे भाई हैं। आज से तू हमारी पुत्री हुई। तू यहीं इस नन्दन-कानन में विचरण कर। ये तेरी सखी सहेलियाँ हैं।"

लड़की ने लजाते हुए कहा—"मेरा नाम तो रख दीजिये। और मैं कब तक यहाँ विचरण करती रहूँ ? कब तक मुझे यहाँ रहना होगा ?"

पार्वती जी ने कहा—"बेटी! मैं तेरा अभिप्राय समझ गई। किन्तु अभी तुझे सहस्रों वर्षों तक पति नहीं मिलेगा। प्रतिष्ठानपुर के महाराज ऐल के पुत्र आयु हैं। बहुत दिनों के पश्चात् उन के नहुष नाम का धर्मात्मा राजर्षि पुत्र होगा। उसी के साथ तेरा विवाह होगा। वही तुझे पत्नी-रूप में वरण करेगा। तू तपस्या करके अपने जीवन को सदाचार मय बिताते हुए नहुष के जन्म की प्रतीक्षा कर। तेरे मुख पर चिन्ता तथा शोक के भी चिह्न नहीं हैं। तू सदा शोक रहित होकर हँसती रहती है, अतः तेरा नाम आज से 'अशोकसुन्दरी' होगा। तू यहाँ इस वन में अपनी सखी सहेलियों के साथ निवास कर।" इतना कहकर पार्वती जी ने उस कन्या को आशीर्वाद दिया और वे शिवजी के साथ नांदिया पर चढ़कर कैलाश चली गईं।

अशोकसुन्दरी उसी नन्दनवन में रहकर अपनी सखी-सहेलियों के साथ दिन बिताने लगी। वह जब सखियों को साथ लेकर नन्दनवन में इधर-उधर घूमती, तब ऐसी लगती, मानों इस वन की अधिष्ठातृ देवी हो। जब वह लीला-कमल कर में लेकर घुमाती हुई चलती, तो साक्षात् कमला के समान प्रतीत होती। देवता उसे लक्ष्मी समझकर प्रणाम करते। कभी-कभी शची देवी जब वन-विहार के लिये आतीं, तो उसके सौंदर्य को

देखकर लज्जित हो जातीं। कामदेव की पत्नी रति उससे ईर्ष्या करने लगी। वह सोचती थी—"किसी प्रकार यह यहाँ से अन्यत्र चली जाय, तो सुर पुर में मेरी ही धाक रहे। इसके सौन्दर्य के सम्मुख मुझे कौन पूछेगा ?" इस प्रकार उस कन्या को नन्दन वन में निवास करते हुए बहुत दिन व्यतीत हो गये।

एक दिन विप्रचित्ति दैत्य का पुत्र हुण्ड घूमता फिरता नन्दन वन में आया। उन दिनों उसका बड़ा प्रभाव था। इन्द्रादि समस्त देव उसके नाम से थर-थर काँपते थे। स्वर्ग में वह स्वच्छन्द विचरण करता। उसके भय से कोई देवता भी चूँ तक नहीं करता। सभी स्वर्ग की अप्सरायें उसकी सेवा करतीं। सर्वत्र उसकी धाक जमी हुई थी। जब वह नन्दनवन में आया, तब सहसा उसकी दृष्टि अशोकसुन्दरी पर पड़ गई वह उसे देखकर परम विस्मित हुआ। इसके पूर्व स्वर्ग में उसने ऐसा सौन्दर्य कभी नहीं देखा था। उर्वशी, रम्भा, तिलोत्तमा, विप्रचित्ति तथा अन्यान्य जितनी भी स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सरायें समझी जाती थीं, वे इसके सामने कुछ भी नहीं थी पहले तो उसने समझा 'लक्ष्मी जी वन में घूम रही हैं।' फिर उसे सन्देह हुआ कि यह लक्ष्मी जी नारायण को छोड़कर ऐसे कैसे आवेंगी ? सम्भव है, इन्द्र-पत्नी शची हो। किन्तु शची तो ऐसी सुन्दरी है नहीं। उसे तो मैंने अनेकों बार देखा है। हमारे दैत्य वंश की ही तो वह पुत्री है। यह कोई और ही है। यह सोचकर वह उस सुन्दरी के समीप गया और बोला—"देवि ! तुम कौन हो ? किसकी पत्नी हो ? यहाँ नन्दन-कानन में अकेली क्यों घूम रही हो ?"

अशोकसुन्दरी ने कहा—"दानवेन्द्र ! मैं भगवती पार्वती की पुत्री हूँ।"

दैत्यराज हुण्ड ने कहा—"पार्वतीजी के तो कोई पुत्री हैं हीं नहीं। तुम उनकी पुत्री कैसे हुईं ?"

यह सुनकर अशोकसुन्दरी ने कहा—"दैत्येन्द्र! मुझे माता जी ने कल्पवृक्ष से मानसिक संकल्प द्वारा उत्पन्न किया है। शिवजी के सम्मुख उन्होंने मुझे अपनी पुत्री के रूप में स्वीकार किया है। मुझे उन्होंने उत्पन्न करके यहीं रहने की आज्ञा दी है।"

दैत्यराज हुण्ड यह सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने उससे कहा—"हाँ, ठीक ही है, पार्वती जी की तो सभी सन्तानें हैं। अच्छा मैं एक बात कहूँगा, तुम उसे मानोगी ?"

अशोकसुन्दरी ने कहा—"उसे बिना सुने मैं कैसे कह सकती हू, कि मानूँगी ही। पहले आप बात कहें, तब मैं उस पर विचार करूँगा,कि वह मानने योग्य है या नहीं।"

हुण्ड ने कहा—"देवि! कहना यही है, कि मैं दैत्यराज विप्र चित्ति का पुत्र हूँ। हुण्ड मेरा नाम है, तीनों लोकों में मेरे बल पराक्रम की ख्याति है। इन्द्र मेरे नाम से ही थर-थर काँपते हैं। तुम मेरे साथ विवाह कर लो।"

यह सुनकर अशोकसुन्दरी की आँखें क्रोध से लाल हो गईं। उसने डाँटकर कहा—"चल, हट, दुष्ट! पार्वतीजी की पुत्री से विवाह करने चला है! तालाब में जाकर अपना मुख तो देख! इसी मुँह से विवाह करने चला है, सावधान! फिर ऐसी बात मुख से निकाली, तो ठीक न होगा।"

विनय के साथ हुण्ड ने कहा—"तुम तो अप्रसन्न हो गई। मेरा अभिप्राय यह है, कि विवाह तो तुमको करना ही है। फिर संसार में आजकल मुझसे श्रेष्ट वर और कहाँ मिलेगा ? मैं तुम्हें अपनी आँखों की पुतली की भाँति रखूँगा, अपनी सब पत्नियों में

श्रेष्ठ बना दूँगा और तुम्हारा दास बनकर तुम्हारी प्रत्येक आज्ञा का सावधानी के साथ पालन करूँगा।"

अशोकसुन्दरी ने क्रोध में भरकर कहा—"विवाह की बात तो पृथक् रही, मैं तेरे मुख पर थूकूँ भी नहीं। तू सीधे अपने घर चला जा। मेरा विवाह तो मेरी माता ने पहले ही पक्का कर दिया है।"

हुण्ड ने कहा—"सुनूँ भी तो, किसके साथ तुम्हारे विवाह की बातचीत हुई है। कौन ऐसा भाग्यशाली है?"

अशोकसुन्दरी ने कहा—"मेरा विवाह होगा चक्रवर्ती महाराज आयु के पुत्र राजर्षि नहुष के साथ।"

आश्चर्य के साथ हुण्ड ने कहा—"मैं ऐल के पुत्र महाराज आयु को भलीभाँति जानता हूँ, उनके कोई पुत्र है ही नहीं।"

अशोकसुन्दरी ने कहा—"हाँ, अभी तो उनके कोई पुत्र नहीं है, किन्तु कुछ काल के पश्चात् उनको पुत्र होगा, उसी के साथ मेरा विवाह होगा।"

यह सुनकर दैत्यराज हुण्ड बड़े जोरों से खिलखिलाकर हँस पड़ा और बोला—"यह अच्छी रही, अभी दूल्हा पैदा भी नहीं हुआ और दुलहिन माता बनने के योग्य हो गई! पता नहीं, कितने सहस्र वर्षों में महाराज आयु के पुत्र होगा, होगा भी, या नहीं! तब तक तुम बूढ़ी हो जाओगी। युवावस्था तुम्हारी समाप्त हो जायगी, यौवन के सुख से तुम सदा के लिये वञ्चित रह जाओगी। प्राणियों की आयु चंचल है, क्षणभंगुर है, उस पर यौवन तो अत्यन्त ही चंचल है। आपकी यह सुखोपभोग की अमूल्य आयु व्यर्थ न होने पावे। देवि! गोद के को छोड़कर तुम पेट की आशा क्यों करती हो? सामने आई हुई को छोड़कर मिथ्या आशा के सहारे जीवन को संशय में क्यों डालती हो?

आगे रखे हुए गंगाजल को छोड़कर मृग-मरीचिका के पीछे क्यों दौड़ता हो? उस काल्पनिक नहुष की आशा छोड़ो। मैं तुम्हारे निकट सम्मुख उपस्थित हूँ। तुम्हारी इस बात को जो सुनेगा, वही हँसेगा। मान लो, हजार पांच सौ वर्ष के पश्चात् महाराज आयु के पुत्र हुआ भी, तो तुम उसकी वृद्ध बनोगी या वधू बनोगी? इसलिए इस पागलपन को छोड़ो। मेरे साथ विवाह करके संसार के सभी श्रेष्ठ सुखों का उपभोग करो और अपनी युवावस्था को सार्थक बनाओ।"

अशोकसुन्दरी ने अत्यन्त ही रोष के स्वर में कहा—"दैत्य राज! मैं तुमसे कहती हूँ तुम अभी यहाँ से चले जाओ। मैं तुम्हारी श्रद्धाहीन कामवासना से भरी बातों को सुनना भी नहीं चाहती। अब तुमने कुछ मुख से बात निकाली, तो तुम्हारा कल्याण नहीं।"

हुण्ड ने कहा—"देवि! मैं तुमसे विनय कर रहा हूँ। त्रैलोक्य विजयी हुण्ड तुम्हारा अनुचर है, तुमसे प्रेम की भीख माँग रहा है। महाराज आयु की रानी कब गर्भ धारण करेगी, कब उसके पुत्र होगा, होते ही तो वह विवाह कर नहीं लेगा? बालक होगा, कुमार होगा, पोगंडावस्था को प्राप्त होगा, किशोर होगा, तब कहीं जाकर युवावस्था में पदार्पण करेगा। तब तक तुम्हारी युवावस्था समाप्त हो जायगी। युवावस्था ही जीवन है। विशेषकर नारियों की प्रतिष्ठा बढ़ाने वाला युवावस्था ही है। तुम हठ मत करो, मुझे अपना अनुचर स्वीकार कर लो। मैं कृतार्थ हो जाऊँगा।"

अशोकसुन्दरी ने कहा—"दैत्यराज! तुम्हें लज्जा आनी चाहिये। निश्चय ही तुम्हें कामरूपी मदोन्मत्त गजराज ने झक-झोर डाला है, तभी तो तुम ऐसी बातें कह रहे हो! अरे, जिसे विधाता ने ललाट में लिख दिया है, जगन्माता पार्वतीजी ने जिस

संयोग को अपने श्रीमुख से कहा है, चराचर के स्वामी शंकरजी ने जिसका समर्थन किया है; उसे अन्यथा करने की सामर्थ्य किसमें है ? तुम यहाँ से भाग जाओ, नहीं मैं तुम्हें शाप दे दूँगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! पतिव्रता स्त्री के सम्मुख हठ करने की सामर्थ्य किसमें है ? हुण्ड अपना-सा मुँह लेकर चला गया, किन्तु उसने अशोकसुन्दरी को पाने की आशा नहीं छोड़ी थी। महाराज ! जिसके चित्त में जो वस्तु समा जाती है, वह उसे प्राप्त करने की प्राण पण से चेष्टा करता है। हुण्ड ने जब अपने मनोरथ को इस तरह सिद्ध होते न देखा, तब उसने माया का आश्रय लिया। उसके मन में अशोकसुन्दरी की सलोनी मूर्ति गड़ गई थी। वह सोते-जागते, उठते-बैठते, रात-दिन उसी के सम्बन्ध में सोचने लगा।

इधर अशोकसुन्दरी तपस्या करती हुई अपने पति के जन्म की प्रतीक्षा करने लगी। एक दिन उसने देखा, एक बड़ी सुन्दरी स्त्री उसके समीप आकर रोने लगी। उसने दयावश पूछा—"बहन ! तुम क्यों रोती हो ?"

उस स्त्री ने बताया—"मेरे पति को दुष्ट दैत्य हुण्ड ने मार डाला है, मैं उसी के दुःख से दुःखी हो घूम रही हूँ।"

अशोकसुन्दरी ने कहा—"बहन ! हुण्ड तो बड़ा कामी है। वह दुष्ट मेरे भी समीप आया था। अस्तु, कोई बात नहीं, तुम अब पुरानी बातों को भूल जाओ। मेरे समीप रहकर तप करो।" यह सुनकर वह स्त्री अशोकसुन्दरी के समीप रहने तो नहीं लगी, किन्तु दिन में कई बार आती थी।

एक दिन उस स्त्री ने कहा—"देवि ! तुम कभी मेरे घर पर चलो, तो अति उत्तम हो।"

करके हुण्ड सूतिकाघर मे घुस गया और उस बच्चे को जीवित ही अपने घर मे ले आया।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"हाँ, सूतजी! इस कथा को हमे विस्तार से सुनाइये। फिर उस दैत्य ने उस बच्चे का क्या किया? उसने बच्चे को तो मार ही डाला होगा? फिर अशोकसुन्दरी का विवाह किसके साथ हुआ?"

सूतजी बोले—"अजी, महाराज! जिसकी आयु शेष है, उसे कौन मार सकता है? जिसका जिसके साथ सम्बन्ध होना निश्चित है, उसे अन्यथा करने की सामर्थ्य किसमें है? नहुष भाग्यवश दैत्य के हाथो मे आकर भी बच गये। आप धैर्य धारण करें, मैं पूरी कथा आपको सुनाऊँगा।"

शौनकजी बोले—"हाँ, सूतजी! यह तो बड़े ही आश्चर्य की बात है!"

सूतजी कहने लगे—"हाँ, तो महाराज! सूतिकागृह से कुमार नहुष को चुराकर हुण्ड ने उन्हे अपनी स्त्री विपुला को दिया और बोला—"प्रिये! इस बालक को मार कर आज इसे पाचकों को दो। मै आज इसी का माँस खाऊँगा।"

यह सुनकर विपुला ने कहा—"प्राणनाथ! आपको दया भी नहीं आती। कैसा सुन्दर सलोना भोला-भाला यह बालक है! प्रतीत होता है, इसका आज ही जन्म हुआ है। आप ऐसा निन्दित, लोक-गर्हित क्रूर कर्म करने को क्यो कहते हैं? इस निरपराध भोले-भाले बालक के प्राण क्यों लेना चाहते हैं?"

हुण्ड ने कहा—"प्रिये! यह मेरा शत्रु है। अशोकसुन्दरी ने मुझे शाप दिया है। मेरी मृत्यु इसी के हाथो से होगी। स्वर्ग में भी मैंने यह बात सुनी थी। शत्रु के साथ दया करना उचित नहीं।

अतः इसे तुम मारकर आज रँधवाओ। इसके मांस को खाकर आज मैं निश्चिन्त हो जाऊँगा।"

यह सुनकर उनकी पत्नी विपुला ने कहा—"यदि ऐसी बात है, तब तो इसे अवश्य मार डालना चाहिये। मैं अभी इसके मांस को पकवाकर आपके भोजन के साथ लाती हूँ।" यह कहकर विपुला भोजनालय में गई और अपनी एक सहचरी मेकला नाम्नी दासी से बोली—"मेकला! तू इस बच्चे को अभी ले जा। इसे मार कर इसके मांस के टुकड़े-टुकड़े करके इसमें बहुत से सुगन्धित मसाले मिलाकर, अभी पकाकर तू स्वामी के भोजन के साथ ले आ। देखना इसमें प्रमाद न करना।"

मेकला पर विपुला का पूर्ण विश्वास था, वह उसकी प्रत्येक आज्ञाओं का यथावत् पालन करती थी। इसलिये उसने बच्चे को उसे दे दिया। वह भी जैसी आज्ञा कहकर उस बालक को लेकर भोजन गृह में चली गयी।

मेकला ने पाककर्ता सूद से कहा—"देखो, राजा की आज्ञा है इस बालक का मांस स्वादिष्ट बनाकर दानवेन्द्र के रात्रि के भोजन में देना। अभी तुम इस बालक का वध करो।"

यह सुनकर सूद तीक्ष्ण खड्ग लेकर बालक को मारने को उद्यत हुआ। किन्तु उस बालक की रक्षा तो दत्तात्रेय जी का तेज कर रहा था। खड्ग को देखकर बालक हँसने लगा। बालक को हँसते देखकर मेकला के मातृ-हृदय में दया आ गई। वह सूद से बोली—"सूद! देखो, यह कैसा भोला-भाला बालक है। इसके लक्षणों से प्रतीत होता है, यह किसी चक्रवर्ती का पुत्र है। यह दुष्ट दानव न जाने इस बालक को कहाँ से उठा लाया है। यह तो निर्दयी कृपा-शून्य है। भला यह भोला-भाला बालक इस दुष्ट का क्या अपकार कर सकता है। ऐसे फूल से बालक को यह

मारने के लिए ले जाता है। इसे तुम मत मारो। इस अबोध बालक पर दया करो।

पाचकों ने कहा—"देवि! तुम सत्य कहती हो। यह शुभ लक्षणों से युक्त बालक सर्वथा अवध्य है। तुम शीघ्र ही इसे कहीं बाहर रख आओ। ऐसे स्थान पर रखना, जहाँ कृपालु पुरुष रहते हों। मैं तब तक हिरण के छोटे बच्चे को मारकर उसका मांस पकाता हूँ।"

महिला ने दयावश यह बात मान ली। भाग्यवश उसके मन में बच्चे के प्रति ममत्व हो गया था। वह तुरन्त बच्चे को लेकर उड़ी और उसे भगवान् वशिष्ठ के आश्रम के समीप रखकर लौट आई। इधर पाककर्ता ने हिरण के बच्चे का माँस पकाकर उसमें विविध भाँति के सुन्दर स्वादिष्ट मसाले मिलाकर दैत्यराज हुण्ड को थाली में रख दिया। हुण्ड प्रसन्नता के साथ सबको खा गया। खाकर उसे परम हर्ष हुआ, "मैंने अपने पुरुषार्थ से अशोकसुन्दरी के शाप को अन्यथा बना दिया। स्वर्ग के देवताओं के वचनों को भी मिथ्या सिद्ध कर दिया।" वह मन में अत्यन्त ही प्रसन्न था किन्तु उसे पता नहीं था, उसके शत्रु की रक्षा तो उसका भाग्य कर रहा है।

इधर प्रातःकाल जब भगवान् वशिष्ठ उठकर स्नान करने चले तब उन्होंने आश्रम के समीप पड़े हुए उस सुन्दर शिशु को देखा। उस इतने सुन्दर सद्यःजात सुकुमार कुमार को देखकर मुनि को परम विस्मय हुआ। उन्होंने तुरन्त ही अन्यान्य ऋषियों को बुलाया। सभी उस बालक के अलौकिक रूप अनुपम ओज तेज को देखकर चकित रह गये। भगवान् वशिष्ठ ने दिव्यज्ञान से सब बातें जान लीं। उन्हें यह विदित हो गया कि इसे सूतिकागृह से हुण्ड उठा लाया है, किन्तु इसकी आयु शेष थी, इसी से यह बच गया।

यह दैत्यराज हुण्ड को अवश्य मारेगा। मुझे अभी इसकी रक्षा स्वयं ही करनी चाहिये। यदि हुण्ड को यह बात विदित हो गयी, कि मेरा शत्रु मरा नहीं, जीवित है, तो वह नित्य ही मारने के नये-नये उपाय करता रहेगा। इन सब बातों को सोचकर भगवान् वशिष्ठ जी ने दोनों हाथों से प्रेम पूर्वक उस बालक को उठा लिया और आश्रम में उसे लाकर उसकी देख-भाल की, और बड़े स्नेह से पुत्र की भाँति उसका पालन पोषण करने लगे।

शनैः-शनैः आश्रम में रहकर बालक शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगा। मुनि ने कहा—"यह बालक जन्म लेते ही हुषित नहीं हुआ। इसलिये संसार में इसका नाम नहुष होगा। उसी दिन से आश्रम-वासी उसे नहुष के नाम से पुकारने लगे। मुनि ने बालक के सभी क्षत्रियोचित कर्म कराये। अवस्था होने पर उसे समस्त धनुर्वेद, अस्त्र-शस्त्रों का चलाना, लौटाना आदि सभी कार्य सिखाये। कुछ ही काल में कुमार नहुष सभी अस्त्र-शस्त्रों में निपुण हो गया। गुरु वशिष्ठ की कृपा से वह संसार में अद्वितीय हो गया।

इधर जब से इन्दुमती के सूतिगृह से बालक अदृश्य हो गया, तब से राजा-रानी अत्यन्त ही उदास रहने लगे। सब को बड़ा आश्चर्य था, कि बालक को ले कौन गया! बहुत खोज करने पर भी बालक का कुछ पता न लगा। रानी की रोते-रोते आँखें सूज गईं। उसी समय वीणा बजाते हरि गुण गाते नारदजी महाराज आयु के समीप आ पहुँचे। देवर्षि को देखकर महाराज ने उनका स्वागत सत्कार किया। दोनों ओर से कुशल प्रश्न होने के अनंतर नारद जी ने पूछा—"राजन्! तुम कुछ उदास से दीखते हो, मुझे अपने दुःख का कारण बताओ।"

राजा ने हाथ जोड़कर कहा—"भगवन्! जो न जानता हो,

उसे बताया जाता है। आप तो सर्वज्ञ हैं, घट-घट की बात जानने वाले है। आपको मैं क्या बताऊँ फिर भी आपकी आज्ञा है, तो मैं उसे कहता हूँ। भगवान् दत्तात्रेय की कृपा से मेरे एक पुत्र हुआ था, न जाने कौन उसे सूतिकागृह से उठा ले गया। भगवन्! बड़ी तपस्या के अनन्तर तो मैंने उस पुत्र को पाया था, उसके नष्ट होने से मुझे आन्तरिक दुःख है। मेरे दुःख की तो कुछ बात नहीं, उसकी माता की दशा अत्यन्त शोचनीय है, रोते-रोते वह अंधी हो जायेगी।"

नारदजी ने कहा—"राजन्! आप अपने पुत्र के लिये सोच न करें वह नष्ट नहीं हुआ है, सुरक्षित है। दत्त भगवान् की कृपा से प्राप्त पुत्र का अनिष्ट संसार मे कौन कर सकता है? वह सर्व गुण सम्पन्न अद्वितीय शूरवीर होकर अपने शत्रु को मारकर, परम सुन्दरी स्त्री के साथ विवाह करके, वधू के साथ शीघ्र ही आकर तुम्हारे दर्शन करेगा।"

यह सुनकर राजा ने पूछा—"भगवन्! मेरा पुत्र कहाँ है? एक बार चलकर मैं देख तो आऊँ।"

मुनि बोले—"देखो, इस प्रकार धैर्य खो देने से कोई लाभ नहीं। अभी तुम उसे देखने की इच्छा मत करो। कुछ दिनों मे वह अकेले नहीं, बड़ी सुन्दरी बहू को साथ लेकर तुम्हारे समीप आ जायगा।" इतना कहकर नारद जी तुरन्त वहाँ से अन्तर्धान हो गये। नारद जी के वचन से राजा-रानी को धैर्य हुआ। वे बड़ी उत्सुकता से पुत्र के आने की प्रतीक्षा करने लगे।

इधर कुमार नहुष वशिष्ठ मुनि के आश्रम पर रहकर ऋषि-मुनियों द्वारा प्रेम पाकर शुक्ल-पक्ष के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगे। वे देखने मे बड़े ही सुन्दर, तेजस्वी और प्रभावशाली जान पड़ते थे। भगवान् वशिष्ठ से उन्होंने सम्पूर्ण धनुर्वेद तथा विधि

पूर्वक सभी दिव्यास्त्रों का उपसंहार सहित प्रयोग सीख लिया था। उन्होंने ऋषियों के मुख से सुन रखा था, कि हुण्ड दैत्य उनका शत्रु है, वही उन्हें चुराकर लाया था, अतः उनके मन में हुण्ड को मारने की बड़ी इच्छा हुई। देवता तो यह चाहते ही थे। किसी प्रकार हुण्ड मारा जाय। उन्हीं का यह षड़यन्त्र था। वे जानते थे, यह दैत्य हमसे तो मरेगा नहीं। आयु-पुत्र नहुप ही इसे मारेंगे। अतः वे अनेक उपायों से नहुप की रक्षा करने लगे, उन्हें बहुत से अस्त्र-शस्त्र भी सिखाये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! संसार में कितनी विचित्रता है? सभी अपने-अपने मन की बातें सोचते हैं। देवता हुण्ड को मरवाने की सोच रहे थे, वशिष्ठ अपने शिष्य के अभ्युदय की बात सोच रहे थे, महाराज आयु अपने पुत्र के आने की बात सोच रहे थे, उनकी पत्नी इन्दुमती अपने आत्मज की कल्याण की बात सोच रही थी, नहुप अपने शत्रु हुण्ड को मारकर अशोक सुन्दरी से विवाह की सोच रहे थे और हुण्ड दैत्य यह सोचकर निश्चिन्त था, कि मैंने अपने शत्रु को मारकर उसका मांस खा लिया, अब मैं अजरामर हो गया। उस मृग के मांस को नहुप का मांस समझकर बड़े स्वाद के साथ उसने खाया। खा-पीकर वह गङ्गा-तट पर तपस्या करती हुई अशोकसुन्दरी के समीप गया और बोला—"सुन्दरि! तुम अब अपने हठ को छोड़ो मेरे साथ विवाह कर लो। तुम्हारे भावी पति को तो मैं मारकर खा गया।"

इस पर अशोकसुन्दरी ने कहा—"तू कामी है, झूठा है, निर्लज्ज है। भला पार्वती जी का वचन कभी मिथ्या हो सकता है? आयु-पुत्र नहुप को कोई मार सकता है?"

हुण्ड ने कहा—"तुम अभी मेरी बात पर विश्वास न करोगी।

देख लेना, कुछ दिनों में सब बात मालूम हो जायगी। जन्म होते ही मैं उसे सूतिका घर में उठा लाया था, उसको मारकर उसका मांस बनवाकर मैं उसे पूरा खा गया। अच्छा, अब मैं जाता हूँ, तुम और विचार लो। यदि नहुष मर गया हो, तो तुम्हें मेरे साथ ही विवाह करना होगा।" यह कहकर वह लौटकर अपने महोदय पुर में आ गया।

अब अशोकसुन्दरी के मन में सन्देह होने लगा, "यह दुष्ट है, अवश्य ही यह माया से आयु-पुत्र को ले आया होगा, सम्भव है, मारकर इसने खा भी लिया हो। किन्तु पार्वती जी का वचन अन्यथा कैसे हो सकता है? हाय! मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? किससे कहूँ? कौन मेरी सुनेगा?"

इस प्रकार अशोकसुन्दरी चिन्ता में मग्न विलाप कर रही थी, कि उसी समय विद्रुर नामक गन्धर्व ने आकर कहा—"देवि! तुम क्यों चिन्ता कर रही हो? मैं तुम्हारी मनोव्यथा को जानता हूँ। यह हुण्ड तो दुष्ट है, यह आयु-पुत्र को प्रसूतिकागृह से लाया अवश्य था, किन्तु उन्हें मार नहीं सका। वे तो सकुशल वशिष्ठजी के आश्रम में बढ़ रहे हैं। तुम उनके लिये चिन्ता मत करो। वे शीघ्र ही आकर इस दुष्ट को मारकर तुम्हारे साथ विवाह करेंगे। तुम मेरी बात पर विश्वास करो। देवताओं ने ही मुझे तुम्हारे पास यह सदेश देने को भेजा है।" इतना कहकर विद्रुर गन्धर्व चला गया। अब तो अशोकसुन्दरी बड़े मनोयोग से तपस्या करने लगी। उसे तप करते-करते बहुत दिन व्यतीत हो गये।

इधर जब कुमार नहुष बड़े हुए, तो उन्होंने भगवान् वशिष्ठ से हुण्ड-वध की आज्ञा माँगी। मुनि ने उनकी योग्यता अस्त्र-शस्त्रों की कुशलता देखकर उन्हें सहर्ष आज्ञा दे दी। इससे कुमार अति हर्षित हुए। वे अस्त्र-शस्त्रों को लेकर हुण्ड को मारने चलने लगे।

मुनियों ने उनका स्वस्त्ययन किया, देवताओं ने पुष्पों की वर्षा की। मन्द-सुगन्धित पवन वहने लगा। देवराज इन्द्र ने जब कुमार नहुप को पैदल ही हुण्ड से लड़ने को जाते देखा, तो उन्होंने अपने सारथी मातलि के साथ अपना रथ उनके लिये भेजा। इन्द्र के दिव्य रथ को पाकर नहुप अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। उस पर चढ़कर वे चल दिये। चलते-चलते वे उसी स्थान पर पहुँचे, जहाँ अशोकसुन्दरी तप कर रही थी। नहुप को तो कुछ पता ही नहीं था। वहाँ उन्होंने अपना डेरा डाल दिया। स्वर्ग की अप्सराएँ आ-आकर नहुप के सम्मुख नृत्य करने लगीं। गन्धर्व गाने लगे। कामदेव के समान सुन्दर कुमार नहुप सुन्दर दिव्य सिंहासन पर बैठे संगीत सुन रहे थे।

संगीत की मधुर ध्वनि सुनकर अशोकसुन्दरी के मन में उत्कंठा हुई, "आज यहाँ ऐसा दिव्य संगीत क्यों हो रहा है, चलकर देखूँ तो सही, कौन यहाँ आया है"। यह सोचकर उसने एक सघन वृक्ष की ओट से निहारा—स्वर्ग की उत्तम से उत्तम अप्सराएँ नृत्य कर रहीं हैं और एक सजीव सौन्दर्य के समान पुरुप बैठे-बैठे उनके नृत्य को निहार रहा है। अशोकसुन्दरी उन पुरुप को देखकर अपने आपे को भूल गई, उसके पलक झँपते नहीं थे। एक-टक दृष्टि से वह उसे निहारती की निहारती ही रह गई। उसने अपने मन को बहुत रोका, किन्तु उसका मन उसके आधीन रहा नहीं, वह उसे छोड़कर भाग गया। बिना मन के भूली-सी, भटकी-सी, ठगी-सी वह सुन्दरी वहीं की वहीं खड़ी रह गई। इतने में ही रम्भा अप्सरा आई और बोली—"सती-पुत्री! क्या देख रही हो तपस्वियों को इस प्रकार छिपकर युवा पुरुपों को देखना उचित नहीं। जाओ, तपस्या करो।"

अशोकसुन्दरी ने कहा—"बहन! यही तो मैं सोच

मेरा मन कभी भी किसी को देखकर चंचल नहीं हुआ, किन्तु न जाने क्यों, इसे देखकर चंचल हो रहा है। इसका कारण मैं अभी तक नहीं समझ सकी। मैं यहाँ से जाना चाहती हूँ, किन्तु पैर उठते ही नहीं। चित्त चाहता है, इसे ही निहारती रहूँ।"

यह सुनकर रम्भा बोली—"देवि! तुम पार्वत जी की पुत्री हो, तपस्विनी हो, तुम्हारा चित्त कभी अधर्म की ओर नहीं जा सकता। देवताओं ने जिनके साथ तुम्हारा विवाह निश्चित किया है, पार्वतीजी ने जैसा तुम्हें आशीर्वाद दिया है, ब्रह्माजी ने जिनके साथ तुम्हारा सम्बन्ध लिखा है, ये वे ही महाभाग आयु के पुत्र नहुष हैं। जैसे अपनी वस्तु को मन स्वयं ही पहचान लेता है, वैसे ही तुमने अपने प्राणपति को बिना परिचय के ही पहचान लिया। बिना पूर्वजन्म के सम्बन्ध के सहसा ऐसा प्रेम हो ही नहीं सकता। ये तुम्हारे भावी पति हैं, तुम लज्जा को छोड़ो और चलकर इन्हें पति-रूप में वरण करो।"

यह सुनकर अशोकसुन्दरी ने कहा—"बहन! ऐसे सहसा उनके समीप जाना उचित नहीं। न जाने वे क्या सोचें। इसलिये पहले तुम जाकर उनको मेरा संदेश सुनाओ। उसे सुनकर वे जो कहें, वह आकर मुझसे कहो। वे बुलायेंगे, तो मैं जाऊँगी।"

रम्भा ने कहा—"अच्छी बात है, मैं तुम्हारी दूती का काम करूँगी। किन्तु मुझे क्या मिलेगा?"

अशोकसुन्दरी ने हँसकर कहा—"तुझे सब कुछ मिलेगा। मैं तो तेरी हूँ ही, वे भी तेरे हो जायँगे।"

रम्भा ने कहा—"ये सब तो शिष्टाचार की बातें हैं किन्तु मेरे लिये यही बहुत है कि तुम दोनों मिल जाओगे, सुखी हो जाओगे। लोग परमार्थ के लिये कितने-कितने क्लेश उठाते हैं? अपने शरीर से किसी का उपकार हो जाय, वही क्या कम है!

अच्छी बात है, मैं जाती हूँ।" यह कहकर वह कुमार नहुष के समीप गई।

रम्भा ने जाकर पहले कुमार नहुष को प्रणाम किया और अशोकसुन्दरी का आदि से अन्त तक सब वृत्तान्त बताते हुए कहा—"वह आपके ही निमित्त तप कर रही है। आप उसे पत्नी रूप में स्वीकार करें।"

कुमार नहुष ने कहा—"रम्भे! मुझे सब कुछ मालूम है। मेरे गुरुदेव भगवान् वशिष्ठ ने मुझे अशोकसुन्दरी की उत्पत्ति, उसके तप की कथा, हुण्ड द्वारा उसे छलकर लाने का वृत्तान्त तथा उसके द्वारा हुण्ड को शाप देना, आदि सभी बातें पहिले ही बता दी हैं। मैं यह जानता हूँ, अशोकसुन्दरी की उत्पत्ति मेरे ही लिये हुई है। वही मेरी धर्म-पत्नी होगी, उसी के पाने के लिये दुष्ट दानव हुण्ड मेरा जन्म होते ही मुझे हर लाया था। भाग्यवश मैं बच गया। भगवान् वशिष्ठ ने मेरी रक्षा की। अब जब तक मैं दैत्यराज हुण्ड को मार न डालूँगा, तब तक अशोकसुन्दरी से विवाह नहीं कर सकता। अभी कुछ दिनों तक तुम और धैर्य धारण करो। मैं हुण्ड को मारने ही आया हूँ।" नहुष की ऐसी बातें सुनकर रम्भा चली गई और उसने सभी बातें जाकर अशोकसुन्दरी से कहीं। इस बात को सुनकर वह परम प्रसन्न हुई और हुण्ड के वध की प्रतीक्षा करती हुई [illegible] पर ही [illegible] करने लगी।

इधर हुण्ड के गुप्तचरों ने नहुष का आगमन [illegible] साथ हुई उसकी सब बातों को [illegible] ही दैत्यराज हुण्ड क्रोध में भर गया। उसने [illegible] कर्ता ने, उस दुष्टा दासी ने, [illegible] का वध कराऊँगा। पहले [illegible]

मेरी चतुरंगिणी सेना सजाई जाय, मेरे सभी वीर सैनिक चलकर उस अल्पवीर्य राजपुत्र को घेर लें। व्यूह बनाकर सब उस पर एक साथ प्रहार करो। धर्माधर्म का कुछ भी विचार न करो। जैसे भी, जिस प्रकार भी, वह मरे, वैसे ही उसी प्रकार काम करना चाहिए।" अपने स्वामी की आज्ञा पाकर सभी दैत्य दानव नाना अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर नहुष को मारने चले। स्वयं हुण्ड भी अपने सुवर्णमण्डित दिव्यरथ पर चढ़कर नहुष से युद्ध करने चला। दैत्य दानवों ने चारों ओर से राजकुमार नहुष को घेर लिया। दोनों ओर से बाणों की वर्षा होने लगी। दानवों ने बहुत सी मायायें रचीं, हुण्ड ने अपना सम्पूर्ण बल लगाया, किन्तु दत्तात्रेयजी के तेज और वशिष्ठजी आशीर्वाद से महाराज नहुष का रोम भी टेढ़ा नहीं हुआ। उन्होंने हुण्ड के साथ घनघोर युद्ध किया। अन्त में उसने एक ऐसी शक्ति मारी, कि जिसके लगते ही दैत्य मरकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसके मरते ही देवता आकाश से पुष्पों की वर्षा करने लगे, अप्सरायें नाचने लगीं गन्धर्व गाने लगे, उस समय सर्वत्र आनन्द ही आनन्द छा गया।

हुण्ड के मर जाने पर रम्भा को साथ लिये हुए अशोक-सुन्दरी कुमार नहुष के समीप आई और लजाती-सकुचाती हुई बोली—"राजकुमार! मैं तुम्हारी धर्मतः पत्नी हूँ। मेरी माता पार्वतीजी ने मुझे यही आज्ञा दी थी कि आप दैत्यराज हुण्ड को मारकर मुझे अपनावेंगे। सो विधिपूर्वक विवाह करके मुझे अपनी दासी बनाइये।"

यह सुनकर कुमार नहुष बोले—"सुन्दरि! मैं सब बातें पहले से ही जानता हूँ। मेरे गुरु भगवान् वशिष्ठ ने पहले से ही मुझे ये सब बातें बता दी थीं। तुम्हारी तपस्या की बात भी उन्होंने बताई थी, किन्तु सुन्दरी! विवाह करने में मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ।

ती अपने गुरु के अधीन हूँ। तुम मेरे साथ चलो, मैं भगवान्
शिष्ठ से निवेदन करूँगा। वे शुभ मुहूर्त में, सुन्दर लग्न में मेरे
ाथ तुम्हारा विवाह कर देंगे।"

यह सुनकर अशोकसुन्दरी परम हर्षित हुई। वह अपनी
ती रम्भा के साथ कुमार की आज्ञा से इन्द्र के रथ पर बैठ गई।
र उन दोनों को लिये हुए वशिष्ठजी के आश्रम पर आये।
ने हुण्ड को जिस प्रकार मारा था, जिस प्रकार घनघोर युद्ध
था, ये सभी वृत्तान्त विस्तार के साथ सुनाये और साथ ही
में उन्होंने अशोकसुन्दरी का परिचय भी दे दिया।"

अशोकसुन्दरी को देखकर मुनि परम प्रमुदित हुए, उन्होंने शुभ मुहूर्त तथा उत्तम लग्न में वैदिक विधि से अग्नि और ब्राह्मणों के समीप नहुष का अशोकसुन्दरी के साथ विवाह कर दिया। दोनों ही बड़े सुखी हुए। तब वशिष्ठजी ने कहा—"बेटा! अब तुम्हारा आश्रम का कार्य समाप्त हुआ। तुमने देव-शत्रु दुष्ट-दानव हुण्ड को मार ही दिया, अब तुम अपनी बहू को साथ लेकर घर जाओ। वहाँ तुम्हारी माता तुम्हारे वियोग में तड़प रही हैं, पिता चिन्तित हो रहे हैं, तुम जाकर उन्हें सान्त्वना दो, धैर्य बँधाओ और जाकर उनकी सेवा करो।"

गुरु की आज्ञा शिरोधार्य करके नहुष अपनी पत्नी अशोकसुन्दरी और रम्भा को साथ लेकर अपने पिता की राजधानी को चले। इधर देवताओं ने पहले ही से मेनका अप्सरा को रानी के पास भेज दिया था। रानी इन्दुमती अपने पुत्र के शोक में व्याकुल हुई रुदन कर रही थी। मेनका ने जाकर कहा—"देवि! अब शोक छोड़ो। तुम्हारा पुत्र वधू के साथ आज ही तुम्हारे समीप आ रहा है।" इस समाचार के सुनते ही रानी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उसने शीघ्रता के साथ अपने पति को अन्तःपुर में बुलाया। फिर मेनका ने जो कुछ भी कहा था, सब सुनकर राजा को भी बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने कुमार के आगमन के उपलक्ष्य में बड़ा भारी उत्सव किया। सम्पूर्ण नगर तोरण-वन्दनवारों से सजाया गया। गाजे-बाजे और जयघोष के साथ पुत्र-वधू-सहित पुत्र को वे महलों में लाये। कुमार ने आकर माता-पिता के पादपद्मों में प्रणाम किया। अशोकसुन्दरी ने भी अपनी सास तथा श्वसुर के चरणों की वन्दना की। सर्वत्र आनन्द मनाया जाने लगा। प्रजा के सभी लोग परम सन्तुष्ट हुए। महाराज आयु ने बहुत-सा दान-पुण्य किया। अशोकसुन्दरी

को यहाँ पहुँचा कर रम्भा उसकी अनुमति लेकर स्वर्ग चली गई। नहुष अशोकसुन्दरी को पाकर अत्यन्त ही सुखी हुए। अशोक-सुन्दरी परम रूपवती सुशीला सुन्दरी सती-साध्वी नारी थी वह नहुष को प्राणों से भी अधिक प्यार करती थी।

कुछ काल के पश्चात् महाराज आयु अपना राज-पाट सब नहुष को सौंपकर, तथा उन्हें विधिपूर्वक राजा बनाकर, अपनी पत्नी इन्दुमती के साथ तपस्या करने वन में चले गये। तब महाराजा नहुष धर्मपूर्वक इस समद्वीपा वसुमती का तत्परता के साथ पालन करने लगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज नहुष बहुत दिनों तक इस पृथ्वी का शासन करते रहे। उनके यति, ययाति, संयाति, आयाति, वियति और कृति—ये छः पुत्र हुए। ये सभी धर्मात्मा थे। महाराज नहुष ऐसे प्रभावशाली थे, कि देवताओं और ऋषियों ने मिलकर एक बार उन्हें इन्द्र बनाया था।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—सूतजी! ऋषियों ने महाराज नहुष को स्वर्ग का इन्द्र क्यों बनाया? देवताओं के इन्द्र उस समय कहाँ चले गये थे? वे कितने दिन स्वर्ग के इन्द्र रहे इन बातों को मैं अवश्य सुनाये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! अब मैं महाराज नहुष के इन्द्र होने का वृत्तान्त सुनाता हूँ। आप सब इसे श्रद्धा-सहित श्रवण करें।"

छप्पय—सुरपुर उमा अशोकसुन्दरी पैदा कीन्हीं।
कल्पवृक्ष तैं भई शिवा-पुत्री करि लीन्हीं॥
नहुष होहिँ पति उमा हरपि आशिष तिहि दीन्हीं।
विप्रचित्ति-सुत हुएड करी माया सो चीन्हीं॥
करचो व्याह नृप नहुष ने, गुरु-आज्ञा तैं हुएड हनि।
गये पितृ-गृह निरखि सुत, प्रमुदित जनु अहि पाइ मनि॥

# महाराज नहुष को इन्द्र-पद की प्राप्ति

[ ७५२ ]

यतिर्ययातिः संयातिरायातिर्वियतिः कृतिः।
षडिमे नहुषस्यासन्निन्द्रियाणीव देहिनः॥*
(श्री भा० ६ स्क० १८ अ० १ श्लो०)

छप्पय

रानी पाइ अशोकसुन्दरी नहुष सुखी अति।
गये आयु वन करी तपस्या लही परम गति॥
सुत यति और ययाति वियति संयाति यशस्वी।
आयति कृति सब षष्ठ भये अति ज्येष्ठ तपस्वी॥
वृत्र मारि हत्या-ग्रसित, ह्वै शतक्रतु जब छिपि गये।
तब सुर सम्मति तैं नहुष, स्वर्ग माँहिँ सुरपति भये॥

मनुष्य अपने शील और सदाचार के बल से चाहे तो देवता बन सकता है। वह जब तक सदाचार पर स्थित रहेगा, तब तक अविराम उन्नति की ओर बढ़ता जायगा। किन्तु, जहाँ उसने सदाचार का अतिक्रमण किया, वह अभिमान के वशीभूत हुआ, वहाँ उसका पतन भी निश्चित है। जो सदा बड़ों का आदर-सम्मान

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज नहुष के यति, ययाति, संयाति, आयाति, वियति और कृति—ये छः पुत्र उसी प्रकार थे, जिस प्रकार देहधारी जीवों के छः इन्द्रियाँ होती हैं।"

करता है, उनसे आशीर्वादों को लेता है, वह आगे बढ़ता ही है। पर जब मनुष्य अपने को ही सब कुछ समझकर दूसरों को कुछ समझता ही नहीं, बड़ों का अपमान करता है, उनसे न करने योग्य कार्य कराता है, तब समझो कि वह अपने पतन के पथ को स्वयं ही परिष्कृत कर रहा है, उसकी ओर स्वतः ही बढ़ रहा है। अतः उन्नति-पथ के पथिकों को सर्वदा श्रेष्ठ पुरुषों का सम्मान और सदाचारानुकूल कर्म करते ही रहना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब मैं महाराज नहुष का उत्तर चरित आपको सुनाता हूँ। नहुष के पिता आयु, जब वन को चले गये, ये और सुपुत्रों की भाँति प्रजा का पालन करने लगे। कालान्तर में क्रमशः इनके यति, ययाति, संयाति, आयाति, वियति और कृति—ये छः पुत्र हुए। ये सब के सब बड़े धर्मात्मा थे। महाराज नहुष अतिथि-अभ्यागतों तथा उत्तमोत्तम ब्राह्मणों को अनेकानेक वस्तुएँ सदा दान दिया करते, वे कभी किसी से कटु भाषण नहीं करते, सबसे प्रसन्न मुख बातें करते। उनके द्वार से कोई निराश नहीं लौटता। इच्छानुकूल वे दान देते, इससे उनके यश की ख्याति तीनों लोकों में फैली हुई थी। उनके द्वारा आयोजित यज्ञों में ब्राह्मण दक्षिणा लेते-लेते अघा गये थे। अतः उस पुण्य का उपभोग भी उन्हें शीघ्र ही मिलना था।"

वृत्रासुर के मारने से जब इन्द्र को ब्रह्म-हत्या लगी, तब वे हत्या के भय से मानसरोवर के फूले कमल की एक नाल में छिप गये। स्वर्ग इन्द्र रहित हो गया। तीनों लोकों मे हाहाकार मच गया। तब इन्द्र के बिना काम कैसे चले ? इसके लिये स्वर्ग में एक सार्वजनिक सभा बुलाई गई। समस्त देवता, किन्नर, गन्धर्व, किंपुरुष, आदित्य, वसु, मरुद्गण, ऋषि महर्षि इसमें एकत्रित हुए, सबों ने इन्द्र की आवश्यकता प्रकट की।

अगस्त्यजी ने प्रस्ताव किया—"जब तक देवराज इन्द्र प्रकट नहीं होते, तब तक के लिये एक अस्थाई इन्द्र चुन लिया जाय। वह इन्द्र का स्थानापन्न होकर तीनों लोकों का पालन करे।" अगस्त्यजी के इस उत्तम प्रस्ताव का सभी ने समर्थन किया। अब सबसे बड़ा प्रश्न यह उठा कि इन्द्र का स्थानापन्न किसे बनाया जाय। मुख्य-मुख्य देवताओं से पूछा गया, सबने कह दिया, यह बताना हमारे वश की बात नहीं है। इसी प्रकार उपदेवों ने भी इसमें अपनी असमर्थता दिखाई।

इसपर ऋषियों ने कहा—"भाई, यों काम नहीं चलेगा। राजा का काम कोई राजा ही चला सकता है। पृथ्वी के किसी राजा को बुलाकर तब तक अस्थाई इन्द्र बना दो।" अब पृथ्वी के राजाओं की खोज होने लगी। सब ने एक स्वर से कहा—"इस समय एक राजा नहुष ही पृथ्वी पर ऐसे हैं, जो स्वर्ग के राजा भी बनाये जा सकते हैं।"

सर्वसम्मति के साथ ऋषि-मुनियों का एक शिष्टमंडल महाराज नहुष के समीप आया। स्वर्ग के सभी बड़े-बड़े ऋषि-महर्षियों को देखकर महाराज नहुष अत्यन्त प्रसन्न हुए, उन्होंने हृदय खोलकर सबका स्वागत-सत्कार किया, शास्त्रीय विधि से पूजा अर्चा की। पूजा को विधि-पूर्वक ग्रहण करने के पश्चात् मुनियों ने राजा के राज्य, कोष, मन्त्री, परिवार तथा समस्त प्रजा का कुशलक्षेम पूछा। कुशल-प्रश्न के अनन्तर हाथ जोड़कर राजा ने कहा—"महाभागगण! आज इस अकिंचन के ऊपर आप सब ने किस कारण कृपा की। यदि मेरे योग्य कोई सेवा हो, तो मुझे आज्ञा दीजिये।"

ऋषियों ने कहा—"राजन्! देवराज इन्द्र ब्रह्महत्या के भय से अदृश्य हो गये हैं। इन्द्र के बिना यज्ञ के भागों को कौन ग्रहण

करें? इसलिये हम सब आपको इन्द्र के लौटने की अवधि तक के लिये स्वर्ग का इन्द्र बनाना चाहते हैं।"

यह सुनकर कानों पर हाथ रखकर महाराज नहुष बोले— "महात्माओ! आप यह कैसी अनोखी बात कह रहे हैं? देवता तो हमारे पूजनीय हैं, वन्दनीय हैं, उन देवताओं के राजा हम मर्त्यधर्मा मनुष्य कैसे बन सकते हैं?"

ऋषियों ने कहा—"राजन्! दान, सत्संग, मधुरवाणी, देव-पूजन और भक्ति—ये स्वर्गीय गुण हैं। जिनमें ये गुण है, वे चाहे स्वर्ग में रहें या पृथ्वी पर, उनकी गणना देवताओं में ही है। आप में ये सभी गुण विद्यमान हैं। अतः आप अपने कर्मों के कारण देवता ही हैं। नरेन्द्र तो आप हैं ही। सप्त द्वीपवती वसुमती का पालन तो आप करते ही हैं, आप स्वर्ग का पालन भी करें।"

राजा ने नम्रता के साथ कहा—"नहीं महाराज! स्वर्ग का पालन कोई हँसी-खेल थोड़े ही है। वहाँ एक से एक तपस्वी, तेजस्वी, यशस्वी और प्रभावशाली पुरुष जाते हैं। समस्त ऋषि-मुनियों पर शासन करना, उनको एक लीक पर चलाना कोई साधारण काम नहीं है। वहाँ तो ऐसे-ऐसे तेजस्वी महात्मा बैठे हैं कि वे मुझे यदि एक बार देख भर दें, तो मैं जलकर भस्म ही हो जाऊँ।"

ऋषियों ने कहा—"नहीं राजन्! जब हम आपको स्वेच्छा-पूर्वक इन्द्र बनाने आये हैं, तब भस्म करने का कोई प्रश्न ही नहीं, चाहे हम कितने भी तेजस्वी क्यों न हों।"

नहुष बोले—"नहीं भगवन्! केवल बनाने से ही काम नहीं चलता। जब तक अपने में तेज का प्रभाव नहीं दूसरों के बनाने से क्या? यों तो आप एक मिट्टी का पुतला ही बना कर वहाँ रख दें। अपने में नियन्त्रण करने की शक्ति, तेज और प्रभाव न हो,

तो सभापति का पद लेना उचित नहीं। किसी के बनाने से कोई बन जाय तो उसका कोई प्रभाव नहीं। इस प्रकार झूठ-मूठ का इन्द्र बनना मैं नहीं चाहता।"

ऋषियों ने कहा—"तब आप चाहते क्या हैं ?"

राजा ने कहा—"महाराज ! क्षमा चाहता हूँ।"

ऋषियों ने कहा—"आप से अधिक योग्य और प्रभावशाली इस समय तीनों लोकों में कोई नहीं। ये ऋषि मुनि अवश्य हैं, सो ये वरदान दे सकते हैं, समय पड़ने पर शाप भी दे सकते हैं, ये शासन नहीं कर सकते। इसलिये आपको ही स्वर्ग में चलकर शासन करना होगा।"

यह सुनकर नहुष बोले—"महाराज ! यह तो मेरा बड़ा भाग्य है, मेरे लिये महान् गौरव की बात है। किन्तु, मैं अपनी अयोग्यता के कारण ही हिचकता हूँ। आपकी आज्ञा का उल्लंघन करना भी अपराध है, इसलिये यदि आप एक वर दें, तो मैं स्वर्ग का इन्द्र हो सकता हूँ।"

ऋषियों ने प्रसन्न होकर कहा—"हाँ, राजन् ! माँगिये। आप जो भी दुर्लभ से दुर्लभ वर माँगेंगे, वही हम आपको देने को वचनबद्ध हैं।"

राजा ने कहा—"यदि आप मुझे इन्द्र बनाना चाहते हैं, तो यही वरदान दें, कि मेरे सम्मुख जो भी आ जाय, जिसे भी मैं देख लूँ उसी का आधा तेज प्रभाव मुझमें आ जाय।"

ऋषियों को तो अपना स्वार्थ साधना था। सभी ने एक स्वर से कहा—"अच्छी बात है, ऐसा ही होगा। आपके सम्मुख जो भी आ जायगा, वह हतप्रभ हो जायगा।"

यह वरदान पाकर नहुष अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। उनके देखते ही सब ऋषि-मुनि हतप्रभ हो गये। अब तो उन्हें बड़ा हर्ष हुआ।

वे ऋषियों के साथ स्वर्ग गये। सभी ऋषि-मुनियों ने मिलकर विधिवत् उनका इन्द्र-पद पर अभिषेक किया; सभी लोग नये इन्द्र के शासन को मानने लगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार महाराज नहुष अपने पुण्य-प्रभाव से मनुष्य होकर भी स्वर्ग के राजा बन गये। पीछे अहङ्कार और कामाशक्ति के कारण उनका पतन हुआ। इस प्रसंग को भी मैं सुनाऊँगा। आप सावधान होकर इसे सुनें।"

छप्पय

इन्द्रासन पै बैठि नृपति मन माँहिँ सिहावैं।
देव उरग गन्धर्व सिद्ध सिर आइ झुकावैं॥
ऋषि-मुनि बिनती करैं अप्सरा चँवर डुलावैं।
गुन गावैं गन्धर्व नृत्य सुर-वधू दिखावैं॥
अमृत असन भूषन परम, दिव्य गन्ध नन्दन-भ्रमन।
सुर-ललननि को सतत सँग, पाइ भयो उन्मत्त मन॥

# महाराज नहुष का उत्थान-पतन

[ ७५३ ]

राज्यं नैच्छद् यतिः पित्रा दत्तं तत्परिणामवित् ।
यत्र प्रविष्टः पुरुष आत्मानं नाववुध्यते ॥
पितरि भ्रंशिते स्थानादिन्द्राण्या धर्षणाद् द्विजैः ।
प्रापितेऽजगरत्वं वै ययातिरभवन्नृपः ॥*

(श्री भा० ६ स्क०-१८ अ०, २,३ श्लो०)

छप्पय

*पाइ स्वर्ग को राज नहुष मन गर्व भयो अति ।*
*लह्यो अतुल ऐश्वर्य भूप 'की भई भ्रष्ट मति ॥*
*शची समीप सँदेश पठायो मोइ भजो अब ।*
*सती भई भयभीत वृहस्पति निकट गई तब ॥*
*करि सम्मति गुरुतें शची, कहवायो तब वरुङ्गी ।*
*ऋषि ढोवैं शिविका जबहिँ, इच्छा पूरी करुङ्गी ॥*

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! नहुष के सबसे बड़े पुत्र यति ने राज्य ग्रहण नहीं किया, क्योंकि वे उसके उस परिणाम को जानते थे, कि इसमें प्रविष्ट होकर मनुष्य आत्मभाव को नहीं जान सकता। जब इन्द्राणी के साथ सम्भोग करने की अभिलाषा के कारण ब्राह्मणों द्वारा पिता नहुष अपने इन्द्र-पद से भ्रष्ट कर दिये गये और वे अजगर-योनि को प्राप्त हो गये, तब उनके स्थान पर ययाति राजा हुए।"

संसारी विषयों से आज तक कभी किसी की तृप्ति न हुई है, न कभी होगी। ज्यों-ज्यों विषय मिलते जायँगे, त्यों-त्यों इच्छा भी बढ़ती जायगी। संसार के सभी विषय-भोग एक ही व्यक्ति को दे दिये जायँ, तो उन सबको भी भोगने से उस एक की भी तृप्ति न होगी। फिर इतने सीमित विषयों से, इतने भोगेच्छुक प्राणियों के रहते हुए, तृप्ति कैसे संभव है? यदि भोगों की प्रचुरता में ही सुख हो, तो इन्द्र को सदा सुखी रहना चाहिये। स्वर्ग में इन्द्रियों को प्रिय लगने वाले सुखों की क्या कमी! स्वर्ग में पीने को अमृत मिलता है, जो संसार में सर्वोत्तम स्वादिष्ट पेय है। वहाँ कल्पवृक्ष के पुष्प हैं, जिनकी गन्ध योजनों तक जाती है, जिसके फूल कभी सड़ते नहीं, कभी कुम्हलाते नहीं। और भी घ्राणेन्द्रिय को प्रमुदित करने वाली वहाँ दिव्य-दिव्य गन्धें हैं। उर्वशी, रम्भा, तिलोत्तमा तथा और भी ऐसी-ऐसी सुन्दरी अप्सराएँ वहाँ हैं जिनमे नेत्रों को सर्वाधिक तृप्ति मिल सकती है, जिनके सम्मुख संसार के सभी सौन्दर्य तुच्छ हैं। श्रवणेन्द्रिय को सुख पहुँचाने वाला सुमधुर संगीत वहाँ होता ही रहता है। गन्धर्वगण अपने गायन से, अप्सराएँ अपने कल-कूजित कण्ठ से वहाँ कोकिला के सदृश सदा कूजती रहती हैं। उनके नूपुरों की सुमधुर ध्वनि श्रवणों में अमृत घोलती रहती है। स्पर्श करने को उन कोमलाङ्गी कामिनियों की दिव्य गन्धयुक्त देह सभी सुकृतियों के लिये सुलभ है। चढ़ने के लिये इच्छाचारी विमान हैं, घूमने के लिये चैत्ररथ, विभ्राजक तथा नन्दन आदि कानन हैं। कौन-सी इन्द्रिय का वहाँ आहार नहीं? फिर भी वहाँ मानसिक व्यथा है। पतन का भय लगा है। अतिशय दोष भी वहाँ विद्यमान हैं। अतएव वहाँ भी सुख नहीं। जितने विषय प्राप्त होते हैं, उनसे सन्तोष नहीं होता। उपदेव देवों का भोग

चाहते हैं, देवता इन्द्र होना चाहते हैं, इन्द्र ब्रह्म-सुख को तरसते हैं। लाभ से लोभ बढ़ता है। यदि मन में असन्तोष है, तो ब्रह्म लोक में भी भले ही चले जाओ वहाँ भी सुख नहीं, शान्ति नहीं। यदि मन सन्तुष्ट है, स्वर्ग, नरक, पृथ्वी, पाताल, ब्रह्मलोक-कहीं भी रहो, सुख ही सुख है। सन्तोष ही उत्थान है, असन्तोष ही पतन। ब्रह्म को छोड़कर एक-सी स्थिति में कोई भी कभी नहीं रह सकता—या तो उसकी उन्नति होगी, या अवनति। उत्थान-पतन का यह क्रम ब्रह्मलोक तक लगा ही रहता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं महाराज नहुष के अन्तिम चरित को संक्षेप में सुनाकर उनके चरित की समाप्ति करूँगा। हाँ तो ऋषि मुनियों तथा देवताओं के बनाने से नहुष इन्द्र बन गये। कहाँ तो वे पृथ्वी के राजा थे, कहाँ अब स्वर्ग के अधीश्वर बन गये। अमृत का पान करते, नन्दनकानन में सुर-वनिताओं के साथ स्वच्छन्द विहार करते, विमानों में चढ़कर घूमते। स्वर्ग की सबसे श्रेष्ठ सुन्दरी सैकड़ों सुर-ललनाएँ सदा उनकी सेवा में सन्नद्ध रहतीं। सुन्दर से सुन्दर संगीत सदा होते रहते। सभी उनकी सेवा में तत्पर रहते, ऋषि-मुनि आकर उनकी स्तुति करते। देवता और लोकपाल अंजलि बाँधे उनके सामने खड़े रहते। उनके सम्मुख सब तेजहीन हो जाते। नये इन्द्र जो चाहते करते, वे किसी से सम्मति भी न लेते वे ऋषि मुनियों से अपनी पालकी उठवाते, खूब मनमानी करते।

जिन्होंने पहले इन्द्र से आदर पाया था, उनको अब नये इन्द्र पूछते भी नहीं थे। जिनको दान-दक्षिणा, मान-सम्मान प्राप्त था, उन्हें नहुष चाहते तो देते, न चाहते तो कान पकड़कर उसे निकाल देते। प्रभुता पाकर मद हो जाना स्वाभाविक ही है। नहुष भी स्वर्ग का राज्य पाकर मदोन्मत्त हो गये। अब तो ऋषि-मुनियों में

कानाफूसी होने लगी। जब किसी शासन के प्रति जनता में असन्तोष हो जाता है, तब उसके विरुद्ध गुप्त समितियों का निर्माण होता है। लोग शासन के विरुद्ध गुप्त षड्यन्त्र रचते हैं। देवताओं और ऋषियों की भी एक गुप्त सभा देवगुरु बृहस्पतिजी के घर पर हुई। वह सभा ऐसे ढंग से हुई कि नये इन्द्र को इसकी कोई सूचना ही न हो पायी। यदि उसे पता चल जाता और वह बीच में आ जाता, तो सब हतप्रभ हो जाते। समिति में इन्हीं बातों पर विचार हुआ कि "यह अस्थाई इन्द्र तो बहुत अन्याय करने लगा है। अपने सम्मुख किसी को कुछ समझता ही नहीं। प्रसंगानुसार कहता भी है, 'अब मुझे कौन इन्द्रासन से हटा सकता है ?' यदि इसने इन्द्रासन पर स्थायी अधिकार स्थापित कर लिया, तब तो बड़ा अनर्थ हो जायगा। इसका कुछ उपाय होना चाहिये।"

एक मुनि ने कहा—"क्या उपाय किया जाय ? हम लोग यह नहीं जानते थे, कि यह ऐसा हो जायगा। पृथ्वी पर तो यह बड़ा धर्मात्मा था। इन्द्र होते ही यह मदोन्मत्त हो गया। हम लोगों ने तो इसे वर देकर पहिले ही अपने हाथ कटवा लिये। अब हो ही क्या सकता है !"

बृहस्पति जी ने कहा—"केवल निराशा प्रकट करने से काम न चलेगा, कुछ-न-कुछ उपाय अवश्य करना चाहिये। पहले यह पता लगाओ कि कितने लोग उससे सन्तुष्ट हैं, कौन-कौन देवता, ऋषि मुनि उसके पक्ष में हैं।"

सब ने कहा—"सभी उससे असन्तुष्ट हैं। ऊपर से तो उस की स्तुति करनी ही पड़ती है, किन्तु मन से कोई भी उससे प्रसन्न नहीं, क्योंकि सभी का वह अपमान करता है।"

बृहस्पति जी ने पूछा—"ये अप्सरायें उससे सन्तुष्ट हैं न ?"

कुछ अप्सरायें भी गुप्त सभा मे सम्मिलित हुई थीं। उनमें से उर्वशी बोली—"महाराज! कुछ न पूछिये। आप लोगों ने तो बन्दर के हाथ मे खड्ग दे दिया है। हम स्वर्ग में सबका मनोरञ्जन करने वाली थीं, हमें सबसे सम्मान प्राप्त होता था। ये नये इन्द्र तो हमे दासी समझते हैं। ऐसी-ऐसी नीच टहल कराते हैं, जो हमारी दासी की दासियाँ भी कभी नहीं करती थीं।"

बृहस्पति जी ने कहा—"तब तुम चाहो तो उसे पदच्युत करा सकती हो।"

अप्सराओं ने कहा—"महाराज! हम तो अबलाएँ हैं। हम क्या कर सकती हैं। आप इतने बड़े-बड़े तेजस्वी हैं, आप जो चाहें, कर सकते हैं।"

देवगुरु ने कहा—"हम लोग लाखों-करोड़ों वर्ष तपस्या कर के तेज-तप का सग्रह करते हैं, तुम चाहती हो तो क्षण भर में सब पर पानी फेर देती हो तुम्हें अबला कहने वाला स्वयं ही निर्बल है। तुम तो ऐसी सबला हो कि क्रुद्ध होने पर जिसे चाहो, उसे पाताल पठा सकती हो।"

अप्सराओं ने कहा—"हमे आप जो आज्ञा करेंगे, उसे हम करने को तत्पर हैं।"

बृहस्पति जी ने कहा—"अच्छा, तुम एक काम करो, नित्य ही उसके सम्मुख शची देवी के सौन्दर्य की प्रशसा किया करो, जिससे उसके मन में ये संस्कार जम जायँ, कि शची से बढ़कर संसार मे कोई भी सुन्दरी नारी नहीं है।"

पवनदेव ने पूछा—"इससे क्या होगा।"

गुरु बृहस्पति जी बोले—"इससे जो होगा, उसे स्वयं ही देख लेना।"

उर्वशी ने कहा—"अच्छी बात है, आज से हम ऐसा ही

वायु-मंडल बनायेंगी।" इस प्रकार निश्चय होने के अनन्तर गुप्त समिति की कार्यवाही समाप्त हुई।"

सूतजी कहते हैं – "मुनियो ! संसार में यद्यपि कोई नूतनता नहीं। फिर भी प्राणी नित्य नूतनता चाहता है। सुलभता में जो वस्तु प्राप्त हो जाती है, उसका विशेष महत्त्व नहीं प्रतीत होता। जो वस्तु रहस्यमयी हो, दुर्लभ हो, उसी की ओर चित्त स्वतः ही आकर्षित होता है। इसीलिये देवताओं को परोक्ष प्रिय बनाया है। भगवान् यों ही सबको मिल जाते, तो लोगों की उनके प्रति इतनी अधिक लालसा न होती। नहुष की सेवा में स्वर्ग की सभी सुन्दरी अप्सराएँ हाथ जोड़े खड़ी रहतीं। जब वह पृथ्वी में था, तब उसके लिये स्वर्गीय अप्सरायें कुतूहल की वस्तु थीं, उनके प्रति आदर था, सम्मान था। अब नित्य प्राप्त होने से वे साधारण हो गईं। फिर भी वे अनुपम सुन्दरी तो थीं ही। वे अब अपने संगीत में, नित्य ही शची की प्रशंसा करने लगीं, बढ़ा-चढ़ाकर उनके सौन्दर्य का वर्णन करने लगीं।

एक दिन नहुष ने उर्वशी से कहा—"मैं तो सदा से सुनता आया हूँ, तुम्हारी उत्पत्ति श्रीमन्नारायण भगवान् के उरू से हुई है। तुम संसार में सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी हो। किन्तु देखता हूँ कि तुम भी शची के सौन्दर्य की सदा प्रशंसा करती रहती हो। सुन्दरी स्त्रियाँ तो किसी स्त्री के सौन्दर्य की प्रशंसा करतीं ही नहीं।"

उर्वशी ने हाथ जोड़कर कहा—"प्रभो ! जो अभिमानी ईर्ष्यालु स्त्रियाँ होती हैं, वे अपने सम्मुख किसी को सुन्दरी समझतीं ही नहीं। सदा दूसरों के दोष ही देखती रहती हैं। किन्तु, सत्य बात को छिपाना तो महापाप है। मेरे और शची देवी के सौन्दर्य की क्या तुलना ! मैं वारवनिता हूँ वे सती साध्वी हैं। मैं सर्व भोग्या हूँ; उनका स्पर्श देवेन्द्र के अतिरिक्त कोई कर

हो नहीं सकता। हम में से कोई भी उनके चरण के नख-सौन्दर्य के बराबर भी नहीं है। वे रूप की राशि सौन्दर्य की साकार सजीव प्रतिमा हैं। उनके दर्शन भी भाग्य से होते हैं। रति उनकी दासी है। हम तो कभी उनके चरण धोने का सुयोग मिल जाता है तो इतने में ही कृतार्थ हो जाती हैं। आपने कभी उनके दर्शन नहीं किये ?"

नहुष ने हँसकर कहा—"हाँ, जबसे मैं यहाँ आया हूँ, वे कभी इधर आई नहीं।"

हँसकर उर्वशी ने कहा—"वे ऐसे थोड़े ही आती हैं महाराज देवेन्द्र के बिना तो वे बाहर निकलती ही नहीं। आप उन्हें देख लेते, तो हम सब आपको फीकी फीकी लगतीं।

नहुष के मन में एक चोट-सी लगी—"मेरा इन्द्र बनना व्यर्थ है। यदि शची मेरे समीप नहीं आती, तो शची के बिना मैं इन्द्र कैसा ?" उसके मन में शची को पाने की उत्कट इच्छा जाग्रत हुई। वह शची के अनेक काल्पनिक चित्र बनाता, फिर भी उसे सन्तोष न होता।

दूसरे दिन नहुष ने वायुदेव को बुलाया और कहा—"पवन ! तुम सभी स्थानों में जाते हो। अभी जाकर तुम शची रानी को मेरा सन्देश पहुँचाओ। उनसे कहो—"मैं इन्द्र हूँ, उन्हें मुझे भजना चाहिये। जो इन्द्र होगा, शची को उसी की रानी बनना होगा।"

पवन देव "जो आज्ञा" कहकर शची देवी के समीप गये, और नये इन्द्र की आज्ञा उन्होंने नम्रता पूर्वक उन्हें सुना दी। सुनते ही सती शची तो अवाक् रह गईं। एक तो वह पति वियोग से वैसे ही दुःखी थीं, अब यह और नई विपत्ति उसके सिर पर आ गई। उन्होंने वायुदेव से कहा—"पवनदेव ! तुम तो सब

जानते हो, मैं अपने पति के अतिरिक्त किसी की ओर आँख उठा कर भी नहीं देख सकती। तुम नये राजा से कह दो—"मेरे धर्म की रक्षा करें। ऐसा अन्याय उन्हें उचित नहीं। वे तो कुछ समय के लिये इन्द्र बनाये गये हैं। यहाँ स्वर्ग में वे ऐसा कदाचार न फैलावें।"

वायुदेव ने जाकर सब समाचार नहुष से कहा। नहुष बोला—"मैं यह धर्म की बात कह रहा हूँ—"जो इन्द्र है, इन्द्राणी उसी की पत्नी होगी। शची को मुझे अपनाना ही होगा। अभी तो मैं विनय के साथ कह रहा हूँ। यदि उसने मेरी प्रार्थना स्वीकार न की, तो मैं बल-प्रयोग भी करूँगा।"

पवनदेव ने यह सन्देश भी जाकर शची को सुना दिया। इसे सुनकर तो वह घबराई। तुरन्त वह अपने गुरु बृहस्पति की शरण गई। गुरु-पत्नी तारा ने उनका आदर किया। शची ने रोते-रोते गुरु के चरणों में प्रणाम किया और अत्यन्त ही दीन वचनों में बोली—"भगवन्! गुरुदेव के अपमान का फल हमने यथेष्ट पा लिया। मेरे पति इन्द्रासन छोड़कर ब्रह्म-हत्या के भय से छिपे हुए हैं। मैं उनके वियोग-दुःख को सहती हुई यहाँ दिन काट रही हूँ। मैंने जैसे-तैसे अपने धर्म को अब तक बचाया। अब देखती हूँ, मेरा धर्म नहीं बच सकता। यह नया इन्द्र कामी हो गया है और इसकी विषयाशक्ति पराकाष्ठा तक पहुँच गई है। इसे स्वर्गीय अप्सराओं से सन्तोष नहीं। मुझे भी अपने विषय का साधन बनाना चाहता है। प्रभो! आपके रहते हमारी ऐसी दुर्गति हो, यह तो आपके अनुरूप नहीं है।"

बृहस्पति जी ने कहा—"बेटी! तू चिन्ता मत कर। इसके पाप का घड़ा भर गया है। इसके सुकृत समाप्त हो गये हैं। इस के स्वर्ग से पतित होने के दिन निकट आ गये हैं। यह सब कुछ

मैंने ही कराया है। तू उसके पास यह सन्देश पठा दे कि कल मध्यान्ह को आप ऋषि-मुनियों से पालकी उठवाकर नियत काल से मेरे महलों में आइये, तब मैं आपकी सेवा करूँगी।"

गुरु की आज्ञा शची ने शिरोधार्य की, पवनदेव के द्वारा यही संदेश नहुष के समीप पठा दिया। संदेश सुनकर नहुष को प्रसन्नता हुई, मानो उसकी मनोकामना पूर्ण हो गई। उसे रात्रि में नींद भी नहीं आई, प्रातःकाल होते ही उसने सभी ऋषि-मुनियों को बुलाया। सबने समझा, यह नया इन्द्र हुआ है, कुछ दान-दक्षिणा बाटेगा। इसलिये सभी ऋषि-महर्षि अपने शिष्य और पुत्रों के साथ वहाँ पहुँचे। कुछ ऋषि जानते थे, कि आज नये इन्द्र की बिदाई का उत्सव है। जो लोग गुप्तसमिति के सदस्य नहीं थे, वे इस बात से अनभिज्ञ थे।

उसे तो ऋषियों का वरदान था कि जो उसके सामने आवेगा उसका तेज नष्ट हो जायगा। अतः सभी ऋषि-मुनि हतप्रभ हुए बैठे थे। सम्मुख ही एक बड़ी भारी पालकी रखी थी। नहुष ने आज अपने को अत्यधिक आकर्षक ढँग से सजाया, जिससे शची देखते ही उस पर रीझ जाय। उसे अपने को सजाने में अधिक समय लग गया। उसने कर में बँधे घटिका यन्त्र में देखा, तो पता चला कि नियत समय में कुछ ही काल अवशिष्ट है। वह शीघ्रता से शिबिका में बैठ गया और ऋषियों से कड़ककर बोला—"उठाओ पालकी, शची रानी के घर मुझे तुरन्त ले चलो।"

ब्राह्मणों की आशाओं पर पानी फिर गया। हम स्वयं पालकियों में बैठकर जाते थे, कहाँ हमें इसका कहार बनना पड़ेगा। किन्तु वे कहते क्या? यह राजा है, देवेन्द्र है। चुपचाप सब शिबिका को उठाकर इसे ले चले। महामुनि अगस्त्य तो इस षड्यन्त्र के मुखिया ही थे। वे उनके सम्मुख नहीं आये, एक मुनि

की जटा में छिपकर बैठ गये। शीघ्रता में नहुष ने देखा भी नहीं, कौन ऋषि आये हैं, कौन नहीं। उसे तो शची रानी से मिलने की चटपटी लगी हुई थी, इसलिये उसने कहा—"चले-चलो। विलम्ब न करो।"

सब ऋषि-मुनियों ने पालकी उठायी और शनैः-शनैः चलने लगे। यज्ञों में माल खा-खाकर शरीर कुछ स्थूल हो ही गया था। बोझ उठाने का कभी उन्हें अवसर ही नहीं आता था। अभ्यास न होने से वे कभी इस कंधे पर पालकी लेते, कभी उस पर। नहुष शीघ्रता कर रहा था। वह बार-बार शिविका में बैठा हुआ लात चलाता और सर्प-सर्प (शीघ्र चलो, शीघ्र चलो) कहता। संयोग की बात! जिस मुनि की जटा में अगस्त्य मुनि बैठे थे, उसी में उसने लात मारी। फिर तो क्या था! जिन्होंने एक चुल्लू में समुद्र सोख लिया था, आतापी को खाकर जो पचा गये थे, उनको क्रोध आ गया और बोले—"जा दुष्ट तू ही सर्प हो जा।"

अब क्या था! नाटक समाप्त हुआ! औंधे मुँह पालकी मेंसे वह गिर पड़ा और बड़ा भारी काला अजगर हो गया। अब तो उसका सब मद चूर हो गया। वह विनय के साथ बोला—"प्रभो! मेरे उद्धार का भी उपाय बताते जायँ।"

अगस्त्य मुनि उसके विनीत वचन सुनकर शान्त हो गये और बोले—"अच्छी बात है! सर्प तो तुझे होना ही होगा, किन्तु तेरी स्मृति तुझे बनी रहेगी। तेरे ही वंश में जब धर्मराज युधिष्ठिर होंगे, तब उनसे वार्तालाप करके तेरा सर्प-योनि से छुटकारा होगा और तू पुनः स्वर्ग में आ जायगा।" इतना सुनकर वह धड़ाम से धरती पर गिर गया और अजगर बनकर पृथ्वी पर निवास करने लगा।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! फिर महाराज नहुष

का उद्धार हुआ या नहीं ? और हुआ तो कैसे ? कृपा कर इस कथा को भी आप हमे सुना दे।"

सूतजी बोले—"हाँ महाराज ! धर्मराज युधिष्ठिर से वार्तालाप करके राजर्षि नहुप का उद्धार हो गया। उस प्रसग को भी मैं सक्षेप से सुनाता हूँ ! आप दत्त चित्त होकर उसे श्रवण करें।"

जब द्यूत मे सब कुछ हारकर धर्मराज युधिष्ठिर वनवास के दिन बिता रहे थे, तब एक दिन वे यमुना-तट पर हिमालय प्रदेश के रमणीक प्रान्त में ठहरे हुए थे। बहुत से अग्निहोत्री-तेजस्वी तपस्वी ब्राह्मण उनके साथ थे। उस पर्वतीय प्रात की अपूर्व शोभा निहार कर भीमसेन अत्यन्त प्रसन्न हुए। कौतूहलवश वे बहुत दहाड़ते, ताल ठोंकते, नाना प्रकार की क्रीडा करते बहुत दूर निकल गये। वहाँ उन्होने एक रूखे वन में पहाड़ की बडी भारी खोह में एक अत्यन्त डील डौल वाले अजगर को देखा। उसका रग हल्दी के समान पीला था, उस पर रग विरङ्गी धारियाँ थीं, आँखें लाल लाल थीं वह लम्बी सास ले रहा था। उसकी दाढें तीक्ष्ण थीं, मुख पर्वत की कदरा के समान था, जीभ लपलपा रही थी। वह ओठों को बार-बार चाट रहा था। ऐसे भयकर उस सर्प को देख-कर भीमसेन के रोंगटे खडे हो गये। वे सम्हलना ही चाहते थे कि सर्प ने भीम का पेर पकड लिया। भीमसेन को अपने बल का बडा अभिमान था। उन्होने ज्योंही सम्पूर्ण बल लगाकर अपने को सर्प से छुडाना चाहा, त्योंही सर्प ने उनके सम्पूर्ण शरीर को कस लिया और हाथों को छोडते हुए कहा—"तुम चाहे जितना बल लगा लो।"

भीमसेन ने बल लगाया, किन्तु उनका बल कुछ भी काम न आया। वे सर्प से अपने को नहीं छुडा सके। तब हारकर उन्होने पूछा—"सर्पराज ! आप साधारण सर्प तो हैं नहीं, कोई विशिष्ट

व्यक्ति जान पड़ते हैं; क्योंकि सर्पों में इतना बल देखा नहीं गया है। मैं महाराज पांडु का पुत्र हूँ। धर्मराज युधिष्ठिर का छोटा भाई हूँ, भीमसेन मेरा नाम है। दश सहस्र हाथियों का मुझ में बल है, किन्तु आपके सम्मुख मेरा बल कुछ भी काम नहीं दे रहा है। आप अपना परिचय मुझे दें।"

सर्प ने कहा—"राजन्! मैं आपके पूर्वजों का भी पूर्वज हूँ नहुप मेरा नाम है। कभी मैं अपने पुण्यकर्मों से स्वर्ग का इन्द्र बन गया था। ब्राह्मणों के अपमान से मेरी ऐसी दुदशा हुई। मैं तुम्हें छोड़ नहीं सकता। देव ने यही मेरे लिये आहार निश्चित कर दिया है। अनायास जो मेरे निकट आ जाता है, उसी को मैं खा लेता हूँ। तुम्हें भी मैं खाऊँगा।"

दीन होकर भीमसेन ने कहा—"सर्पराज! तुम धर्मात्मा हो। मुझे मरने से भय नहीं। मेरे भाई मेरे बिना बड़े दुःखी होंगे। मेरी माँ कुन्ती देवी तो मेरे बिना मर ही जायँगी। तीन भाई मुझसे छोटे हैं, एक बड़े हैं। वे सब धर्मात्मा हैं। मैं ही उन्हें क्रोध करके युद्ध के लिये उत्साहित करता रहता हूँ। अब वे सदा वन में ही रहकर दुःख से जीवन काटेंगे। तुम मुझे छोड़ दो।"

सर्प ने कहा—"राजन्! तुम मेरे आहार हो मैं अत्यन्त भूखा हूँ। यही मेरी आजीविका है। मैं तुम्हें छोड़ नहीं सकता।" इतना सुनकर भीमसेन मूर्छित हो गये।

इधर जब बहुत देर तक भीमसेन को धर्मराज ने नहीं देखा, तब वे बड़े चिन्तित हुए। उन्हें भाँति-भाँति के अपशकुन दिखाई देने लगे। उन्होंने द्रौपदी से पूछा—"भीम को तुमने तो कहीं नहीं भेजा है?"

द्रौपदी ने कहा—"नहीं, मैंने तो उन्हें कहीं नहीं भेजा है।

किन्तु वे बड़ी देर से वन में गये हैं। मुझे भी उनके लिये बड़ी चिन्ता हो रही है।" इतना सुनते ही धर्मराज का माथा ठनका। अर्जुन को द्रौपदी की रक्षा के लिये छोड़कर तथा नकुल-सहदेव को ब्राह्मणों की देख-रेख करने का आदेश दे, वे अपने वृद्ध पुरोहित धौम्य को साथ लिये वन की ओर चले। वे भीम के पद-चिह्नों को देखते, उनको खोजते-खोजते उस स्थान पर पहुँचे, जहाँ भीम अजगर के फन्दे में फँसे थे। धर्मराज यह देखकर परम विस्मित हुए कि दश सहस्र हाथियों का बल रखने वाला भीम आज अजगर के फन्दे में कैसे फँस गया। उन्होंने ललकार कर कहा—"भीम! आज तुम्हारी ऐसी दुर्दशा क्यों हुई?"

भीम अचेत थे। धर्मराज की वाणी सुनकर उन्होंने आँखें खोलीं और हाथ से सिर ठोकते हुए बोले—"राजन्! सर्वत्र भाग्य ही फलीभूत होता है। पुरुषार्थ तभी तक काम देता है, जब तक भाग्य अनुकूल रहता है। दैव के प्रतिकूल होने पर विद्या, बल पौरुष, चातुरी, कला तथा अन्य सभी उपकरण व्यर्थ हो जाते हैं। मनुष्य दैवाधीन है। वह भाग्य के हाथ का खिलौना है। भाग्यहीन पुरुष पुरुषार्थ कर नहीं सकता। आप मुझे ही देखें। जो मैं अपने बल के सामने यक्षराज शंभु-सखा कुवेर को भी कुछ नहीं समझता था, उनसे भी युद्ध करने को उद्यत हो गया था, वही मैं आज एक सर्प के द्वारा बाँधा गया हूँ। मेरा बल यहाँ व्यर्थ हो गया।"

यह सुनकर धर्मराज ने सर्प से पूछा—"हे सर्प-श्रेष्ठ! तुम साधारण सर्प तो प्रतीत नहीं होते। तुम देवता, यक्ष, गन्धर्व, किंपुरुष या कोई और उपदेव हो? तुमने यह त्रिलोक-निन्दित सर्प का वेश क्यों बना रखा है? तुम मुझे अपना यथार्थ परिचय दो।"

धर्मराज के ऐसे पूछने पर सर्प बोला "राजन्! मैं तुम्हारा पूर्वज हूँ। चन्द्रवंश की पञ्चम पीढ़ी में मेरा जन्म है। कथा-प्रसङ्ग में तुमने मेरा नाम अवश्य सुना होगा। मेरा नाम नहुष है।"

यह सुनकर धर्मराज ने भूमिष्ठ होकर सर्प को प्रणाम किया और कहा—"मेरे पूर्वज के भी पूर्वज राजर्षि नहुष आप ही हैं? मैंने आपका यश ब्राह्मणों के मुख से बहुत सुना है। मैंने यह भी सुना है, कि आप मनुष्य होकर भी देवेन्द्र हो गये थे। आपको किस कारण यह लोक-निन्दित सर्प योनि प्राप्त हुई?"

सर्प बोला—"राजन्! अभिमान ही पतन का कारण है। अहङ्कार ही नीचे गिराता है। इन्द्र बनकर मैं मदोन्मत्त हो गया था। मैंने वेदज्ञ ब्राह्मणों से पालकी ढुलाई। ऋषि-मुनियों से मैंने कहारों का काम लिया! अगस्त्य-जैसे महर्षि का अपमान किया। इसी से मुझे यह अधम योनि मिली। मैं अपने प्रारब्ध के भोगों को भोग रहा हूँ, भूखा यहाँ पड़ा रहता हूँ। कभी कोई प्राणी स्वतः ही आ जाता है, तो उसे पकड़ कर अपनी बुभुक्षा शान्त करता हूँ। आज तुम्हारा भाई आ गया है, अतः इसे खा कर मैं आज अपनी भूख बुझाऊँगा। तुम तुरन्त यहाँ से भाग जाओ, नहीं तो कल मैं निश्चय ही तुम्हें भी खा जाऊँगा।"

धर्मराज ने कहा—"सर्पराज! आप धर्मात्मा हैं। मेरे भाई को आप छोड़ दें। इसके बदले आप जो भी अन्य आहार कहेंगे, मैं आपके लिये ला दूँगा। अन्य भी कोई कार्य करने को आप कहेंगे तो मैं उसे कर दूँगा।

सर्प ने कहा—"यदि आप मेरे प्रश्नों का यथावत् उत्तर दे देंगे तो मैं आपके भाई को छोड़ दूँगा।"

धर्मराज ने कहा—"सर्पराज! आप जो चाहें वह मुझसे पूछ लें। मैं उन सब का यथामति उत्तर दूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस पर अजगर और धर्मराज युधिष्ठिर मे 'ब्राह्मण कौन है ? ब्राह्मण क्या है ? आदि विषयों पर बहुत देर तक प्रश्नोत्तर होते रहे । अन्त मे अजगर धर्मराज के उत्तरों से सन्तुष्ट हुआ । उनके सत्सङ्ग से परम प्रमुदित हो, वह बोला—"राजन् ! जब मैं स्वर्ग से गिर रहा था, तब मैंने दीन होकर महर्षि अगस्त्य से पूछा था, कि मेरा उद्धार कब और कैसे होगा ?

उन दयालु ऋषि ने मुझे वरदान दिया था, 'धर्मराज युधिष्ठिर से सत्सङ्ग करते ही तुम सर्प योनि से छूटकर पुनः स्वर्ग में आ जाओगे । सर्प-योनि मे भी जो तुम्हारे सम्मुख आ जायगा वह हत-प्रभ हो जायगा । तुम चाहे जैसे बली से बली जीव को पकड़कर खा सकते हो । धर्म के अवतार युधिष्ठिर तुम्हारा उद्धार कर देंगे ।" सो हे आयुष्मान् ! तुमने मेरा उद्धार कर दिया । तुम अपने भाई को लेकर सुख पूर्वकर अपने निवास-स्थान को जाओ, मैं भी अब स्वर्ग जाता हूँ । इतना कहकर सर्प ने भीमसेन को छोड़ दिया और स्वर्ग चला गया ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में राजर्षि नहुष का चरित आपको सुनाया । अब आप लोग और क्या सुनना चाहते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—" सूतजी ! आपने महाराज नहुष के यति ययाति, संयाति, आयाति, वियति और कृति—ये छः पुत्र बताये थे, अब उनके बड़े पुत्र यति के वंश का वर्णन सुनायें ।"

हँसकर सूतजी बोले—"मुनियो ! यति का वंश तो चला ही नहीं । उन्होंने विवाह ही नहीं किया । जब उन्होंने देखा, मेरे पिता इन्द्र होकर सर्प-योनि को प्राप्त हुये, तब उन्होंने समझा कि नश्वर भोगों में यथार्थ आनन्द नहीं । इसीलिये उन्होंने विवाह किया ही

नहीं, राजगद्दी पर भी न बैठे। उनके वन चले जाने पर उनसे छोटे, ययाति, राजा बनाये गये। उन्होंने शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी से विवाह किया।"

इस पर चौंककर शौनक जी बोले—"सूतजी! ययाति तो क्षत्रिय थे, उन्होंने ब्राह्मण कन्या से विवाह क्यों किया और ज्ञानी शुक्राचार्य ने इस प्रतिलोम विवाह का अनुमोदन क्यों किया?"

सूतजी बोले—"महाराज! देवयानी को बृहस्पति पुत्र कच का शाप था, कि तुम्हें कोई भी ब्राह्मण-पति न मिलेगा। इसीलिये विवश होकर शुक्राचार्य ने ऐसे विवाह का समर्थन कर दिया।"

शौनक जी ने कहा—"तब तो राजा की सन्तति वर्ण संकर हो गई होगी? वे शुद्ध क्षत्रिय न रहे होंगे?"

सूतजी कुछ हिचकते हुए बोले—"नहीं महाराज! समर्थों को दोष नहीं लगते। वे अपने शाप वरदान से सब कुछ ठीक ठाक कर लेते हैं। शुक्राचार्य जी ने तो सब कुछ ठीक कर दिया था, किन्तु देवयानी के पुत्र पिता के शाप से क्षत्रिय वर्ण से हीन हो गये। ऋषि-पुत्र का शाप अमोघ था?"

शौनक जी ने पूछा—"देवयानी ने ऐसा कौन-सा अपराध किया था, जिससे कच ने उसे ऐसा दारुण शाप दिया?"

सूतजी बोले—"महाराज! जीव काम के वशीभूत होकर अनुचित इच्छा करता है। जब वह इच्छा पूरी नहीं होती, तब वह क्रोध करता है। क्रोध का परिणाम तो दुःख है ही। सबसे बड़ा शत्रु तो यह काम है। अच्छी बात है, देवयानी को कच ने शाप क्यों दिया, पहले यही कथा मैं आपको सुनाता हूँ। आप सब समाहित चित्त होकर उसे श्रवण करें।"

### छप्पय

शिविका महँ ऋषि लगे नहुष चढ़ि शचि-गृह गमने।
पद-प्रहार करि 'सर्प' कहे मुनि भये अनमने॥
दुष्ट होहि तू सर्प, शाप कुम्भज मुनि दीन्हों।
तुरत सर्प है गिरचो, पाप को फल चखि लीन्हों॥
धर्मराज सत्सङ्ग तैं, सर्प-योनि तैं छुटि गये।
सब तजि यति जब बन गये, तब ययाति भूपति भये॥

# देवयानी और कच में शापाशापी

[ ७५४ ]

न ब्राह्मणो मे भविता हस्तग्राहो महाभुज ।
कचस्य बार्हस्पत्यस्य शापाद् यमशपं पुरा ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १८ अ० २२ श्लोक)

छप्पय

*नृप ययाति ने ब्याह शुक्र-तनया सँग कीन्हों ।*
*शौनक शङ्का करी धर्म नृप क्यों तजि दीन्हों ॥*
*सूत कहें—"मुनि, सुनी, कथा अति कहौं मनोहर ।*
*गुरु-सुत कच सुर-स्वार्थ-हेतु व्रत कीन्हों दुष्कर ॥*
*सीखन मृतसंजीनी-विद्या उशना ढिँग गये ।*
*मारे असुरनि द्वेष-वश, गुरु-प्रसाद जीवित भये ॥*

एक हृदय दूसरे हृदय से मिलने को जब विकल हो जाता है तब विवेक नहीं रहता । यह प्रेम बन्धन भगवान् ने कैसा बाँध दिया है ? बिना सम्बन्ध के प्रेम स्थाई होता नहीं ।

---

* देवयानी राजा से कह रही है—"हे महाबाहो ! मैंने जिन बृहस्पति-कुमार को पहले शाप दिया था, उन्होने मुझे भी शाप दे दिया था, कि तुम्हें ब्राह्मण वर न मिलेगा । इसीलिये मेरा पाणिग्रहण ब्राह्मण नहीं कर सकेगा ।"

संसार में पाँच सम्बन्ध मुख्य माने गये हैं—एक तो व्यष्टि समष्टि का सम्बन्ध, दूसरा पुत्र और पिता का सम्बन्ध, तीसरा सखा–सखा का सम्बन्ध, चौथा स्वामी और सेवक का सम्बन्ध, पाँचवाँ पति और पत्नी का सम्बन्ध। पत्नी में ये पाँचों सम्बन्ध एक साथ मिल जाते हैं। पत्नी पति की अर्धाङ्गिनी है, यह माता-पिता के समान वात्सल्य प्रेम करती हुई पति का पालन करती है। वह एक सच्ची सहचरी है। मैत्री का वह विधिवत् पालन करती है। और पत्नी तो वह है ही। अतः युवक–युवतियों में प्रेम होने पर परस्पर इस सर्वोत्कृष्ट सम्बन्ध को जोड़ने की प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है। यदि उन दोनो में से एक भी इस प्रस्ताव को सामाजिक या धार्मिक बन्धन के कारण ठुकरा देता है, तो उनमें परस्पर प्रायः द्वेष हो जाता है, क्योंकि लौकिक प्रेम में काम को प्रधानता होती है। नाशवान् देह के सम्बन्ध से किया हुआ प्रेम, प्रेम न होकर, मोह, होता है। और मोह तो दुःख का कारण होता ही है। अतः जो प्रेम करने का इच्छुक हो, उसे देह से प्रेम न करके आत्मा से करना चाहिये। इससे उसे कभी भी दुःख न उठाना पड़ेगा, क्योंकि सबके सुहृद सर्वान्तर्यामी श्रीहरि ही हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अब मैं आपको देवयानी और कच के शाप की बात सुनाता हूँ। भगवान् ब्रह्मा के पुत्र हुए अंगिरा और अंगिरा के दो पुत्र हुए—बड़े उतथ्य और छोटे बृहस्पतिजी। बृहस्पति को देवताओं ने अपना पुरोहित बना लिया। इसलिये वे स्वर्ग में रहने लगे। मर्त्यलोक के राजाओं की पुरोहिताई उन्होंने छोड़ दी। उनके बड़े पुत्र का नाम था कच। कच बड़े धर्मात्मा और सदाचारी थे।

ब्रह्माजी के एक दूसरे पुत्र थे भगवान् भृगु। उनके शुक्र

नामक पुत्र हुए, जो उशना कवि तथा भार्गव आदि नामों से भी विख्यात हैं। ये असुरों के पुरोहित हुए। ये सदा असुरों के पक्ष में तथा देवताओं के विपक्ष में रहते हैं।"

इस पर शौनक जी ने कहा—"सूतजी! ब्राह्मण होकर भी शुक्राचार्य देवताओं के विरुद्ध क्यों रहते हैं?"

सूतजी बोले—"महाराज! यह तो भगवान् की क्रीड़ा है। बिना पक्ष बनाये नाटक होता ही नहीं। वैसे नाटक के सभी पात्रों में मेल-जोल रहता है, किन्तु जब वे रङ्गमञ्च पर आते हैं, तब परस्पर युद्ध करते हैं। खेल में तो सब कुछ ही करना पड़ता है। भगवान् ही इन्हें प्रेरित करके इनसे सब कुछ कराते हैं। यह बात थी कि असुर तो सदा सुरों से लड़ते रहते हैं। असुर-देवताओं को मारकर भृगु-पत्नी के घर में छिप जाते थे। देवता वहाँ पहुँच नहीं सकते थे। भृगु-पत्नी असुरों का बहुत पक्षपात करतीं। देवताओं ने विष्णु भगवान् से जाकर सब बातें कहीं। भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, हम भृगु पत्नी को देख लेंगे।" इन सर्वान्तर्यामी के लिये तो कुछ अच्छा बुरा है ही नहीं दैत्य जब थककर भृगु-पत्नी के घर में छिप गये, तब उन्होंने भी सुदर्शन लेकर उस घर के भीतर घुसकर उन दैत्यों को मार दिया और भृगुपत्नी का भी सिर काट दिया। इससे भगवान् भृगु बड़े क्रुद्ध हुए और विष्णु भगवान् को शाप दिया—"जाओ, जैसे तुमने मुझे पत्नी-विहीन कर दिया है, वैसे ही मनुष्य रूप रखकर तुम भी बहुत दिनों तक पत्नी-हीन होकर रहो।" शुक्र तब छोटे थे, उनको विष्णु भगवान् पर क्रोध आ गया। असुर एक पुरोहित की खोज में थे ही। इसलिये उनकी इनसे पटरी बैठ गयी। उन्होंने असुरों के कान फूँककर उन्हें चेला बना लिया। सज्जन पुरुष जिसे एक बार अंगीकार कर लेते हैं, उसे आजीवन

त्यागते नहीं । इसीलिये शुक्राचार्य रात दिन असुरों के हित की ही बात सोचा करते हैं ।"

शुक्राचार्य जब छोटे थे, तभी इनके पिता ने सोचा—"यह मुझसे तो पढ़ेगा नहीं, क्यों कि पिता से प्रेमवश पुत्र पढ़ते नहीं।" अतः वे इन्हें अपने भाई अंगिरा मुनि के पास ले गये और कहा—"इस बच्चे को तुम ही भली-भाँति पढ़ाना।" अंगिरा मुनि के पास इनके पुत्र बृहस्पति तथा अन्यान्य और भी ऋषि कुमार पढ़ते थे, उनके साथ ही ये शुक्र भी पढ़ने लगे, पढ़कर शुक्राचार्य तो असुरों के पुरोहित हुए और बृहस्पतिजी सुरों के। इसलिये दोनों में लागडॉट रहती ही थी। यों तो अपने-अपने यजमानों को प्रसन्न करने को एक दूसरे से विरोध रखते ही थे, किन्तु प्राचीन सम्बन्ध से दोनों में भीतर-ही-भीतर सद्भाव भी था।

शुक्राचार्य मृतसंजीवनी विद्या जानते थे। अतः युद्ध में जो भी दैत्य मरता, उसे ये तुरन्त जिला देते थे। बृहस्पतिजी को यह विद्या आती नहीं थी। अतः युद्ध में देवताओं से असुर बढ़ जाते थे। सुर सोचते थे—"किसी प्रकार हमारे पुरोहित भी मृतसंजीवनी विद्या जान जाते, तो हमारा बड़ा लाभ होता।" तब तक प्रतीत होता है, समुद्र-मंथन नहीं हुआ था।

देवता यह भी जानते थे, कि मृतसंजीवनी-विद्या शुक्राचार्य के ही पास है। हमारे पुरोहित उनके समीप जा नहीं सकते। हाँ गुरुपुत्र कच जा सकते हैं। "बड़ों में आपस में वैर-भाव हो तो उससे बच्चों का कोई प्रयोजन नहीं।" यही सोचकर देवता गुरुपुत्र कच के समीप गये और बोले—"गुरुपुत्र! हमारा एक बड़ा कार्य है। आप ही उसे कर सकते हैं। शुक्राचार्य के समीप जैसे भी हो, जाकर मृत-संजीवनी-विद्या सीख आइए।"

कच बोले—"देवताओ ! शुक्राचार्य तो असुरों का पक्ष लेकर आप लोगों से द्वेष रखते हैं। वे मुझे यह विद्या क्यों सिखावेंगे ?"

देवताओं ने कहा—"वे ब्राह्मण हैं, ब्रह्मवादी हैं। उनका शिष्य बनकर जो उनके पास विद्या सीखने जायगा, उसे वे मना नहीं करेंगे। फिर आपके लिये तो जैसे ही बृहस्पतिजी, वैसे ही शुक्राचार्यजी। बच्चों से तो कोई द्वेष करता नहीं। आप अपनी सेवा से, विनय से, उन्हें सन्तुष्ट कर लें, वे आपको अवश्य विद्या प्रदान करेंगे। हम आपको एक रहस्य की बात बताये देते हैं। शुक्राचार्य के एक मात्र कन्या है देवयानी। उस पर उनका अत्यन्त ही स्नेह है। वह जो कहती है, उसे वे टाल नहीं सकते। आप शुक्राचार्य से भी अधिक उसे मानें, उसकी प्रत्येक आज्ञा का सावधानी से पालन करें। उसे यदि आपने संतुष्ट कर लिया, तो मानों शुक्राचार्य पर विजय प्राप्त कर ली। आप ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए, जब तक विद्या प्राप्त न हो, तब तक शुक्र के यहाँ रहें। आजकल वे पृथ्वी पर दैत्यराज वृषपर्वा के यहाँ निवास करते हैं।"

देवताओं की प्रार्थना को गुरु-पुत्र कच ने स्वीकार किया। वे स्वर्ग से वृषपर्वा की नगरी में आये। उन्होंने शुक्राचार्य के समीप आकर उन्हें साष्टांग प्रणाम किया और हाथ जोड़कर नम्रता के साथ निवेदन किया—"भगवन ! मैं देवगुरु बृहस्पति जी का पुत्र, महर्षि अंगिरा का पौत्र हूँ। कच मेरा नाम है। सहस्र वर्ष का ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करके आपके चरणों के समीप मैं रहना चाहता हूँ।"

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए शुक्राचार्यजी ने कहा—"कच ! तुम भले आये, भैया ! तुम भगवान् अङ्गिरा के सम्बन्ध से जैसे बृहस्पति के पुत्र हो, वैसे ही मेरे भी। तुम मेरे समीप

निवास करो। मैं तुम्हें विद्या सिखाऊँगा।" यह सुनकर कच प्रसन्न हुए और शुक्राचार्य के घर में रहने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्राचीन काल में शिष्य विविध विषय की बहुत सी पुस्तकें लेकर, लेखनी और मसि-पात्र लेकर विद्यालयों में, नियत समय पर पढ़ने नहीं जाते थे। उन दिनों गुरु ही चलते-फिरते पुस्तकालय और ज्ञान के भंडार थे। शिष्य उनके समीप रहते। गुरु और गुरु-पत्नी उन्हें पुत्र की भाँति घर में रखतीं। परिवार के पुरुष की भाँति गुरु के छोटे से छोटे और बड़े से बड़े कार्य को शिष्य किया करते। वे गुरु के निकट रहकर आचार की शिक्षा प्राप्त करते। केवल लिखना पढ़ना ही विद्या नहीं है। सुन्दर लेख लिख लेना, भली प्रकार पुस्तक पढ़ लेना, व्याख्यान दे लेना कला है। विद्या तो वही है, जो हमें मुक्ति का मार्ग दिखावे। उसके लिये सत्य, सदाचार, सहनशीलता, संयम, सरलता—सद्गुण परमावश्यक हैं। ये आते हैं निष्कपट भाव से सद्गुरु की सेवा करने से। प्राचीन काल के ब्रह्मचारी विद्यार्थी यही किया करते थे। उनके सम्मुख अक्षर-ज्ञान का कोई उतना महत्त्व नहीं था। वे गुरु से पढ़ाने की प्रार्थना नहीं करते थे। वे अपने में पात्रता लाने का प्रयत्न करते थे। फिर तो गुरु स्वयं ही चाहें तो एक दिन में शिष्य को सब विद्या प्रदान कर दें। अपात्र को विद्या प्राप्त भी हो गई, तो वह उसका दुरुपयोग ही करेगा। ताम्र के पात्र में रखा हुआ अमृत के समान दधि विष बन जायगा। पात्रता की परीक्षा सद्गुरु ही कर सकते हैं। अतः सद्गुरु को प्रसन्न रखना ही शिष्य का प्रधान धर्म है।

कच बड़े ही सुन्दर थे। वे सुशील, शान्त, सदाचारी, सत्य-प्रतिज्ञ, सहृदय तथा सरस थे। देवताओं ने उन्हें कह रखा था कि तुम देवयानी को प्रसन्न रखना। इसलिये वे गुरु से भी

अधिक देवयानी का ध्यान रखते, उसके रुख को देखकर काम करते, उसके बताये कार्य में कभी प्रमाद न करते। वे उसे गा-बजाकर भी प्रसन्न रखते, सदा उसके समीप संयमपूर्वक रहते, कभी उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। जिस प्रकार बेल के समीप कैसा भी वृक्ष हो, उसी के ऊपर बेल चढ़ जाती है, उसी प्रकार युवती स्त्री के समीप कैसा भी पुरुष रहे, उसके प्रति उसका अनुराग हो ही जाता है। यदि समीप रहने वाला विनयी, सदाचारी और सरस हृदय का प्रेमी भी हो, तब तो कहना ही क्या! अनुराग-अनुराग से बढ़ता है। शील-संकोच तथा मौन से उत्कण्ठा और बढ़ती है। अनुराग का भूषण है, भाव-गोपन। ज्यों-ज्यों अपने प्रति अनुराग रखने वाले के भावों का अध्ययन किया जाता है, त्यों-त्यों अनुराग और बढ़ता जाता है। देवयानी ने एक कल्पित चित्र बना रखा था। वह महर्षि की पुत्री थी, धर्मचारिणी थी। उसने अनुमान लगा रखा था, कि कच ने सहस्र वर्ष के ब्रह्मचर्य का व्रत ले रखा है। जब यह अपने ब्रह्मचर्य व्रत को यथाविधि पूरा करके व्रतान्त-स्नान करेगा, तब मैं इससे विवाह का प्रस्ताव करूँगी। यह मेरी छोटी सी आज्ञा को भी नहीं टालता, तो इसे भी कैसे टालेगा? तब हम और यह पति-पत्नी बनकर सुखपूर्वक रहेंगे। मेरे समस्त मनोरथ पूर्ण हो जायँगे। ऐसे सुन्दर, सुशील, संयमी, सदाचारी, सरस, सहृदय, सत्यप्रतिज्ञ, सरल, साहसी, सर्वसद्गुण सम्पन्न स्वामी को पाकर मैं कृतकृत्य हो जाऊँगी।" उसने कच के प्रति मन ही मन दाम्पत्य-भाव स्थापित कर रखा था, किन्तु अपनी चेष्टा से, कभी इस भाव को व्यक्त न होने दिया। गुरु-पुत्री ही जो ठहरी। यदि अभी से आत्म-समर्पण कर देती, तो शिष्य पर शासन कैसे करती। उसके अनुराग का स्रोत फल्गु के स्रोत के समान था,

जो ऊपर से तो सूखा-सूखा प्रतीत होता था, किन्तु भीतर ही भीतर अगाध स्नेह भरा था।

पाँच सौ वर्षों तक तो असुरों को पता ही न चला, यह कौन है और क्यों शुक्राचार्य के समीप रह रहा है। पीछे असुरों को पता चला कि यह तो हमारे शत्रुओं के पुरोहित का पुत्र कच है, हमारे पुरोहित से मृत-संजीवनी विद्या सीखने आया है। "यदि सीखकर चला गया, तो देवता भी हमारे समान हो जायँगे। अतः इसे किसी प्रकार मार देना चाहिये।" यह सोचकर असुरों ने कुछ गुप्तचर कच के पीछे लगा दिये।

कच जब गुरु की गायों को लेकर, वन से, समिधा का गट्ठर सिर पर रख, लौट रहे थे, तब वे थक कर एक सघन वटवृक्ष की छाया में बैठ गये। उसी समय दश-बीस असुर भी वहाँ आ गये। आकर उन्होंने पूछा—"तू कौन है ?"

कच ने कहा—"मैं देवगुरु बृहस्पतिजी का पुत्र और महर्षि अंगिरा का पौत्र हूँ। कच मेरा नाम है। भगवान् शुक्राचार्य का मैं शिष्य हूँ। उनकी गायों को चराकर समिधा लिये जा रहा हूँ।"

यह सुनकर असुरों ने कच को पकड़ लिया और उनके टुकड़े टुकड़े करके भेड़ियों को खिला दिया और हँसते हुए चले गये।

गोपाल के बिना गौएँ सीधे घर आ गईं। रात्रि हो गई, कच नहीं आये। देवयानी को बड़ी चिन्ता हुई। वह बार-बार बाहर आती, दूर तक देखती, कच का पता नहीं। प्रेम मे पग-पग पर अनिष्ट की शंका बनी रहती है। देवयानी को अनेकों शंकाएँ होने लगीं, कि कच का कुछ अनिष्ट तो नहीं हुआ। जब शुक्राचार्य अग्निहोत्र और जप कर चुके, तब देवयानी ने डरते-डरते कहा—"पिताजी! आप अपने नित्यकर्मों से निवृत्त हो चुके, गायें तो वन से लौट आईं, किन्तु उनका गोपाल कच अभी तक

नहीं लौटा। पिताजी! निश्चय ही उसे असुरों ने मार डाला है। यदि कच न आया, तो मैं भी जीवित न रहूँगी।"

शुक्राचार्य ने कहा—"बेटी! तू घबड़ाती क्यों है। यदि कच को असुरों ने मार भी दिया होगा और वह किसी के पेट में भी चला गया होगा, तो भी मैं अपनी मृत-संजीवनी-विद्या से उसे जीवित कर दूँगा, यदि वह पेट में जाकर पच न गया हो तो।"

यह कहकर शुक्राचार्य ने अपनी विद्या का प्रयोग किया। उसके प्रभाव से कच, जिसके पेट में भी थे, उसी के पेट से निकल कर जुड़ गये और सकुशल अपने घर आ गये। देवयानी ने उनसे इतनी देर में आने का कारण पूछा, तो कच ने उन्हें सब सच-सच बता दिया। इसपर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने कहा—"तुम गाएँ चराने मत जाया करो।" कच ने इसे स्वीकार किया।

एक दिन वे समिधा लेने वन को जा रहे थे। मार्ग में उन्हें असुर मिल गये। इन्होंने कच को पहचान लिया और मारकर एक पत्थर में बाँधकर, उनके मृत शरीर को समुद्र में डाल दिया।"

देवयानी को पुनः शंका हुई। उन्होंने फिर अपने पिता से कहकर कच को जीवित करा लिया। असुरों को जब यह बात मालूम हुई, तब उन्होंने सोचा—"हम कच को मारते हैं, तो शुक्राचार्यजी उसे अपनी विद्या के प्रभाव से जिला देते हैं। अब कुछ ऐसा करें कि इसे शुक्राचार्यजी के पेट में ही पहुँचा दें, जिससे पेट फटने और मरने के भय से वे इसे पुनः जीवित न कर सकें।" इन्होंने यही सोचकर एक दिन कच को एकान्त में पाकर मार डाला और उनके शरीर को जलाकर, उसकी राख को पीसकर, मधु में मिलाकर, शुक्राचार्य को पिला दिया।

उन दिनों तक सुरापान के निषेध के इतने कड़े नियम नहीं

बने थे। शुक्राचार्य अनजान में कच की राख को सुरा के सहित उदरस्थ कर गये। नित्य नियमानुसार सायंकाल जब कच नहीं आये, तब देवयानी ने अपने पिता से कहा—"पिताजी! कच तो आज भी नहीं आया, प्रतीत होता है, असुरों ने उसे फिर मार डाला।"

शुक्राचार्य ने कहा—"बेटी! अब तू ही सोच, मैं क्या कर सकता हूँ। ये दुष्ट असुर उसके पीछे पड़े हैं। मैं बार-बार उसे अपनी विद्या के प्रभाव से जीवित करता हूँ, असुर उसे बार-बार मार डालते हैं। अब मैं कब तक उसकी रक्षा करूँगा?"

देवयानी ने कहा—"पिताजी! कच धर्मात्मा है, सुशील है, सदाचारी है, आपका प्रिय शिष्य है, मुझे वह अत्यन्त प्यारा है। आप उसे जैसे-हो-तैसे अवश्य जिलावें। नहीं तो मैं भी उसके बिना जीवित नहीं रह सकती।"

शुक्राचार्य ने प्रेम भरे रोष के स्वर में कहा—"देवयानी! तू तो लड़कपन करती है। बेटी! भाग्य को कौन मेट सकता है? कच के लिये तू सोच मत कर।"

देवयानी ने कहा—"पिताजी! मैं उस बाप की बेटी हूँ, जो भाग्य की रेख पर भी मेख मारने में समर्थ है, मैं उस बाबा की पोती हूँ, जिन्होंने साक्षात् विष्णु भगवान् की छाती में भी लात मारी और उन्हें शाप देकर दशावतार ग्रहण करने को विवश किया। चाहे जो हो, कच को तो आपको जीवित करना ही होगा।"

शुक्राचार्य अब क्या करते? लड़की के आग्रह को वे न टाल सके। मन्त्र पढ़कर ज्यों ही शुक्राचार्य ने कहा—"बेटा! कच, आओ! आओ, त्योंही कच गुरु के पेट के भीतर जीवित होकर बोले—"गुरुदेव! मैं तो आपके उदर में हूँ। अब कैसे आऊँ?"

आश्चर्य-चकित होकर शुक्राचार्य ने पूछा—"बेटा तुम मेरे उदर में कैसे पहुँच गये ?"

कच ने कहा—"भगवन् ! असुरों ने मुझे मारकर, जलाकर, सुरा में मिलाकर, आपको पिला दिया।" इस पर शुक्राचार्य ने अपने को धिक्कारा, "अरे ! यह तो मुझसे बड़ा पाप बन गया ! आज से मैं संसार में नियम स्थापित करता हूँ, कि जो द्विज सुरा-पान करेगा, उसे ब्रह्महत्या के समान पातक लगेगा।" फिर कच से बोले—"बेटा ! तू सिद्ध हो गया। तू ने अपनी सेवा से देव-यानी को प्रसन्न कर लिया। मैं भी तुझ पर प्रसन्न हूँ। अब मैं तुझे विद्या सिखाऊँगा।"

कच ने कहा—"गुरुदेव ! मैं आपका उदर फाड़कर ही बाहर आ सकता हूँ। और ऐसा करूँगा, तो आप की मृत्यु हो जायगी। फिर मैं विद्या किससे सीखूँगा ?"

शुक्राचार्य ने कहा—"मैं तुझे उदर में ही मृत-संजीवनी-विद्या सिखाता हूँ। उसे सीखकर, मेरा पेट फाड़कर, तू बाहर आ जाना, पुनः मुझे भी अपनी विद्या के प्रभाव से तू जीवित कर लेना; देखना, मुझसे कपट मत करना। "गुरु तैं कपट मित्र तैं चोरी, कै होहि निर्धन, कै होहि कोढ़ी।" निकलते ही मुझे जीवित कर लेना।"

कच ने कहा—"गुरुदेव ! आप मेरे ऊपर विश्वास करें। मैं आपका शिष्य भी हूँ और उदर में रहने के कारण पुत्र भी। मैं जीवन भर आपके साथ कभी भी कपट न करूँगा।"

यह सुनकर शुक्राचार्य प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने उदर में स्थित कच को मृत-संजीवनी-विद्या का उपदेश दिया। कच ने उसे विधवत् ग्रहण किया। वे तब गुरु का उदर फाड़कर निकल आये और अपनी विद्या के प्रभाव से गुरु को भी जीवित कर दिया।"

इस प्रसंग को सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! कच का भेड़ियों के उदर से निकल आना, जल में से निकल कर जीवित होना, शुक्राचार्य के पेट से निकल आना ये सब बातें हमारी बुद्धि में नहीं आतीं। जिस देह के टुकड़े-टुकड़े हो गये, प्राण शरीर को परित्याग करके चले गये, उनका पुनः जीवित होना हमें तो सत्य से परे प्रतीत होता है।"

हँसकर सूतजी बोले—"अजी महाराज! मंत्र-विद्या के सम्मुख असंभव क्या है? कलियुग में मंत्र-विद्या लुप्तप्रायः हो जाती है। इसीलिये कलियुगी मनुष्य इन बातों पर कम विश्वास करते हैं। यह तो ऋषियों की मन्त्र विद्या की बात है। हमने नटों के पास यह विद्या प्रत्यक्ष देखी है। एक नट का आँखों देखा वृत्तान्त हम सुनाते हैं।"

भारतवर्ष के एक प्रधान राजा के समीप एक नट अपनी नटी-सहित खेल दिखाने आया। उसने कहा—"महाराज! हम ऐसा खेल दिखावेंगे, जो आपने कभी न देखा हो।" राजा को बड़ा कुतूहल हुआ।

सहस्रों दर्शक नट का खेल देखने आये। उसने अनेक प्रकार के खेल दिखाये। अन्त में उसने कच्चे धागे की एक अड़िया लेकर आकाश में फेंकी। वह दूर तक चली गई। नट उसी कच्चे धागे पर चढ़ने लगा। सब देखकर चकित हो गये। उसने कहा—"महाराज! मैं स्वर्ग जा रहा हूँ। मेरी नटी की आप देख-रेख करना।" राजा ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की। वह चढ़ते-चढ़ते अदृश्य हो गया। सब दर्शक चकित थे। इतने में ही ऊपर से उसकी एक भुजा गिरी। नटी यह देखकर बहुत दुःखी हुई। उसने कहा—"स्वर्ग में मेरे पति से असुरों की लड़ाई हो गई। उन्होंने ही उनकी बाहु को काट दिया है। वह बाहु को लेकर रोने

आप चाहेंगे, इनसे कहला लेंगे। मेरी पत्नी को अवश्य आपने छिपा रखा है। वह तो बहुत सुन्दरी थी। राजा का चित्त ही तो है। महाराज ! मेरे साथ ऐसा अन्याय न करें।"

राजा ने डाटकर कहा—"तू बड़ा मूर्ख है वे ! अकारण हमें चोरी लगाता है। सबके सामने तो वह जल गई है। हमें तेरी नटी से क्या लेना है ?"

नट ने कहा—"यदि मैं उसे खोज लूँ तब ? यदि वह आपके महलों में ही मिले तब ?"

राजा ने कहा—"तब तो जो चाहना, सो करना।"

इतना सुनते ही नट ने पुकारा..."नटी ! ओ नटी ! कहाँ है तू ?"

राजा के सिंहासन के नीचे से नटी ने कहा—"प्राणनाथ ! मुझे महाराज ने सिंहासन के नीचे दबा रखा है।"

राजा आश्चर्य चकित हुए। उन्होंने सिंहासन के नीचे देखा, तो नटी बैठी है। यह देखकर वे परम विस्मित हुए, उसे यथेच्छ पुरस्कार दिया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब एक साधारण नट ऐसे खेल कर सकता है, तब शुक्राचार्य जैसे सर्वज्ञ ऋषि के लिये मृत-संजीवनी-विद्या के प्रभाव से किसी को जीवित कर देना कौन सी आश्चर्य की बात है ? यह सब तो खेल है।"

शौनकजी ने हँसकर कहा—"सूतजी ! जहाँ आप खेल, क्रीड़ा, लीला कह देते हैं, वहीं हमारा तर्क समाप्त हो जाता है। सच्ची बात यही है, माया में सब सम्भव ही सम्भव है। हाँ, तो फिर क्या हुआ ? कच का अग्रिम वृत्तान्त सुनाइये।"

सूतजी बोले—"हाँ मुनियो ! सुनिये, मैं कच का उत्तर-चरित कहता हूँ। शुक्राचार्य के उदर में ही मृत-संजीवनी विद्या की शिक्षा

प्राप्त करके कच उनके उदर से बाहर आये। उन्होंने गुरु की पूजा की, उनके चरणों में प्रणाम किया और विनय के साथ कहा—"गुरुदेव! में गुरु दक्षिणा में आपको क्या दूं।

शुक्राचार्य ने कहा—"बेटा! गुरु दक्षिणा क्या देनी! तू मेरे गुरु का पौत्र है, मेरा पुत्र है। इतने दिन निष्कपट भाव से तूने मेरी सेवा की, यही गुरुदक्षिणा पर्याप्त है। नियमानुसार, एक गोदान करके, तू अपने व्रत की समाप्ति करके, सुखपूर्वक घर जा।"

गुरु की आज्ञा शिरोधार्य करके कच ने विधिवत् व्रतान्त स्नान किया। गुरु की पूजा और गोदान करके उसने गुरु से आज्ञा माँगी। गुरु ने स्नातक को देने वाले उपदेश देकर कच को आशीर्वाद दिया। अब कच के सम्मुख एक बड़ा ही करुण दृश्य उपस्थित होने वाला था। वह जानता था—"देवयानी का मेरे प्रति अत्यन्त अनुराग है, वह मेरे जाने की बात सुनकर अत्यन्त अधीर हो जायगी। फिर भी जाना तो है ही। सयोग वियोग के ही लिये होता है।" इन्हीं बातों को सोचकर वह साहस करके एकान्त में देवयानी के समीप गया। देवयानी उदास बैठी थी और कच के ही विषय में सोच रही थी। उसी समय कच ने जाकर कहा—"गुरुपुत्री! क्या सोच रही हो? मैंने आज व्रतान्त स्नान किया है, तुम जानती ही हो। आज में घर जाऊँगा। मुझे आशीर्वाद दो, और कभी कभी धर्मपूर्वक मेरा स्मरण कर लिया करना। साथ रहने में, जाने में, अनजाने में, मुझसे अपराध बन गये होंगे, उनको तुम क्षमा कर देना।"

कच एक सांस में ही साहस करके इतनी बातें कह गये। देवयानी ने कुछ नहीं कहा। उनकी बड़ी-बड़ी आँखें गीली हो गईं। उनकी दोनों कोरों से मोतियों के समान अश्रु बिन्दु ढुलक

पड़े, उन्हें कौशल से पोंछती हुई देवयानी ने भर्राई हुई वाणी में कहा—"क्या सचमुच तुम हमें छोड़कर चले जाओगे ?"

कच ने विवशता प्रकट करते हुए कहा—"इच्छा तो नहीं होती, किन्तु कर्तव्यवश जाना होगा।"

देवयानी ने कहा—"कर्तव्य से भी कठिन व्यापार अनुराग का है कच ?"

कच ने कुछ भी इसका उत्तर नहीं दिया। वह अनमने से खड़े रहे। देवयानी ने कहा—"अच्छा, तुम यहाँ मेरे पास बैठ जाओ तुमसे आज मैं एक बात कहना चाहती हूँ।"

अबोध बालक की भाँति कच देवयानी के बताये हुए आसन पर बैठ गये। आज देवयानी के चित्त की विचित्र दशा थी। जैसे कोई गीले वस्त्र को एेंठकर उसका जल निकाल रहा हो, उसी प्रकार उनके सरस-स्निग्ध हृदय को मानो कोई भीतर ही भीतर ऐंठ रहा हो। आज देवयानी के अङ्ग-प्रत्यङ्ग से अनुराग बह रहा था। सहस्र वर्षों तक जिस प्रणय को वे छिपाये हुए थीं, वह आज उन्मुक्त होकर हठात् बाहर आ गया था। उन्होंने सम्पूर्ण ममता बटोर कर कहा—"कच तुम जानते हो, मैं तुम्हें कितना प्यार करती हूँ।"

कृतज्ञता के स्वर में कच ने कहा—"गुरुपुत्री ! यदि तुम मुझे प्यार न करती, तो मैं यहाँ एक दिन भी रह सकता था क्या ? तुम्हारे प्यार को पाकर ही तो मैंने सहस्र वर्ष क्षण के समान बिता दिये।"

देवयानी ने कहा—"कच ! मैं तुमसे एक बात कहना चाहती हूँ। उसे तुम मानोगे ?"

कच को ऐसा लग रहा था, मानो उन्हें कोई दो शिलाओं के बीच में डालकर दबा रहा हो। फिर भी सम्हल कर उन्होंने

कहा—"तुम्हे मेरे ऊपर सन्देह क्यो हुआ ? आज तक कभी मैंने तुम्हारी आज्ञा का पालन न किया हो, ऐसा स्मरण तो मुझे आता नहीं।"

देवयानी ने कहा—"नहीं, ऐसी बात नहीं है। किन्तु अब सम्भव है, न मानो। अब तो तुम स्नातक हो गये हो न ?" कच ने कृतज्ञता के स्वर मे कहा—"यह सब तुम्हारी कृपा से ही हुआ है। मैं तो तुम्हारा वही कच हूँ।"

देवयानी गम्भीर हो गयी। उसने कहा—"अच्छा, देखो, आज सहस्र वर्षों से मैं अपने भावो को छिपाये हुए थी। मैंने अपना मन पहले ही तुम्हे अर्पित कर दिया है। तुम्हारे ब्रह्मचर्य मे मैंने कभी विघ्न नहीं डाला। अब मेरी इच्छा है, तुम वेदिक विधि से मेरा पाणिग्रहण कर लो, मुझे अपनी अर्धाङ्गिनी बना लो।"

कच ने सम्पूर्ण साहस बटोर कर दृढता के साथ कहा—"नहीं, ऐसा नहीं हो सकता।"

देवयानी को यह उत्तर ऐसा लगा, मानो किसी ने उसे हिमालय की चोटी से नीचे ढकेल दिया हो। वह तिलमिला उठी। उसने भली प्रकार कच को ऊपर से नीचे तक देखकर कहा—"ऐसा क्यों नहीं हो सकता ? मुझमे तुम क्या दोष देख रहे हो ? क्या मैं कुलीन नहीं हूँ ?"

कच ने शीघ्रता से कहा—"तुम मे कोई दोष नहीं। तुम गगा जल की भाँति पवित्र हो। तुम्हारे कुल के सम्बन्ध मे तो कुछ कहना ही नहीं, किन्तु मैंने सदा तुम्हे बहन करके माना है। तुम मेरी गुरुपुत्री हो, धर्म की बहन हो। यदि धर्म प्रतिबन्ध न होता, तो मैं तुम जैसी सर्व गुण-सम्पन्ना पत्नी पाकर अपने भाग्य की सराहना करता।"

देवयानी ने कहा—"इसमे धर्म-विरुद्ध तो कोई बात नहीं।

मैं तुम्हारी सगी बहन तो हूँ नहीं। बहुत से ऋषियों ने अपनी पुत्रियों का विवाह अपने शिष्यों के साथ किया है।"

कच ने कहा—"देवि ! किया होगा, किन्तु देखो, मैंने तुम्हें सदा बहन कहा है, गुरु से भी अधिक तुम्हारा आदर किया है। अब मैं तुम्हारा पाणिग्रहण कभी नहीं कर सकता।"

देवयानी ने कहा—"कच तुम व्यर्थ की बातें कर रहे हो। विवाह के पूर्व सभी कन्याएँ बहन के समान हैं। कुमारी कन्याओं का सब समवयस्क भाई के समान हैं। फिर भी विवाह तो किसी कुमार के ही साथ होता है ? अब तक तुमने मुझे बहन कहा, ठीक है। अब तुम मेरा शास्त्रीय विधि से पाणिग्रहण कर लो हमारा नया सम्बन्ध हो जायगा।"

कच ने कहा—"देवि ! तुम काम के वशीभूत होकर ऐसी धर्म-विरुद्ध बातें कर रही हो। सज्जन पुरुषों की वाणी का ही महत्त्व होता है। वाणी से ही पुत्री-पुत्र पराये हो जाते हैं वर वाणी से ही पत्नी को स्वीकार करता है, जिससे जीवन भर उसे उसका भरण-पोषण करना होता है। मैंने तुम्हें सदा बहन कहा है इस-लिये तुम मेरी बहन हो। तुम मेरे गुरु की पुत्री हो। जिन पिता की तुम पुत्री हो, उनके ही पेट से मैं पुनः पैदा हुआ हूँ, इसलिये भी तुम मेरी बहन हो। मैं अपने धर्म और गुरु के साथ विश्वास घात नहीं कर सकता। मुझे गुरुदेव ने भी इस सम्बन्ध में कोई आज्ञा नहीं दी।"

देवयानी ने कहा—"गुरु से आज्ञा तो मैं अभी दिलाये देती हूँ।"

कच ने कहा—"तुम अपने पिता की बहुत प्यारी लड़की हो। पिता की बहुत प्यारी लड़कियाँ स्वतन्त्र होकर प्रायः बिगड़ जाती

हैं। पिता को तुमने वश में कर रखा है। मैं ऐसा धर्म-विरुद्ध सम्बन्ध स्वीकार नहीं कर सकता।"

यह देवयानी का सबसे बड़ा अपमान था। उन्हें कच पर क्रोध आ गया। प्रतिहिंसा की ज्वाला उनके हृदय में जलने लगी।

उसने क्रोध में भरकर कच को शाप देते हुए कहा—"कच, तुम मुझ निर्दोषा पर दोषारोपण कर रहे हो। तुमने सहस्रवर्षों की

मेरी आशा पर पल भर में पानी फेर दिया। अतः मैं तुम्हें शाप देती हूँ तुम्हारी यह विद्या फलवती न होगी।"

क्रोध, क्रोध को बढ़ाता है। कच को भी क्रोध आ गया। उन्होंने कहा—"गुरुपुत्री ! मैंने इस सम्बन्ध को स्वीकार नहीं किया। किन्तु तुम केवल काम के वशीभूत होकर ही मुझे शाप दे रही हो। अतः मैं भी शाप देता हूँ कि कोई भी ब्राह्मण कुमार—ऋषि पुत्र—तुम्हारा पाणिग्रहण न करेगा। मेरी विद्या मुझे फलीभूत न हो, किन्तु मैं दूसरों को तो उसे सिखा ही दूँगा।" इतना कहकर कच कुपित हुई गुरु-पुत्री को प्रणाम करके तथा गुरु की चरण धूलि लेकर स्वर्ग चले गये और उन्होंने वह विद्या वहाँ जाकर इन्द्र को सिखा दी। देवता कच पर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उनकी ब्रह्मचर्य की ऐसी दृढ़ता देखकर वे सब उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इसीलिये कच के शाप से देवयानी को ब्राह्मण-वर नहीं मिला। नहुष-पुत्र महाराज ययाति के साथ उनका विवाह हुआ। सर्वज्ञ शुक्राचार्य तो सब जानते थे। अतः उन्होंने इस सम्बन्ध में कोई आपत्ति नहीं की। उन्होंने ययाति के साथ देवयानी का विवाह कर दिया और राजा वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा भी देवयानी के साथ गई।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! ययाति से देवयानी की भेंट कहाँ हुई ? ययाति ने ऐसा अनुचित प्रस्ताव पहले क्यों किया ? फिर वृषपर्वा ने अपनी पुत्री देवयानी के साथ क्यों भेजी ? कृपा करके इस वृत्तान्त को हमें सुनाइये। धर्मात्मा महाराज ययाति के चरित को सुनने की हमारी बड़ी इच्छा है।"

सूतजी बोले—"महाराज ! जैसा होनहार होता है, वैसे ही सब बानिक बन जाते हैं। ययाति भला शुक्रपुत्री से विवाह का

प्रस्ताव कैसे कर सकता था ? यह तो शुक्राचार्य की लड़ैती लड़की का ही काम था। उसी ने ययाति से ऐसा प्रस्ताव किया और शुक्राचार्य को भी उसे मानना पड़ा। इसका बड़ा ही विचित्र, अत्यन्त ही मनोरञ्जक, प्रसङ्ग है। उसे भी मैं आप सबको सुनाता हूँ। आप समाहित होकर श्रवण करें।"

छप्पय

*असुरनि कच वधि सुरासग गुरु-उदर पठायो।*
*शुक्र सिखाओ मन्त्र मृतक तैं फेरि जिवायो॥*
*ह्वै कृतार्थ कच चले देवयानी बोली तब।*
*करो ब्याह मम सङ्ग न कच ने स्वीकार्‌यो जब॥*
*शाप दियो विद्या नहीं, होहि फलवती निकट तव।*
*मिलहि न तोकूँ विप्रवर, कच हु कुपित ह्वै कह्यो तब॥*

# देवयानी और शर्मिष्ठा में कलह

[ ७५५ ]

शर्मिष्ठाजानती वासो गुरुपुत्र्याः समव्ययत् ।
स्वीयं मत्वा प्रकुपिता देवयानीदमब्रवीत् ॥
अहो निरीक्ष्यतामस्या दास्याः कर्म ह्यसाम्प्रतम् ।
अस्मद्धार्यं धृतवती शुनीव हविरध्वरे ॥*
(श्री भा० ९ स्क० १८ अ० १०-११ श्लो०)

छप्पय

वृषपर्वा की सुता नाम शर्मिष्ठा युवती ।
ले सखियनि वन गई देवयानी सँग हँसती ॥
शोभा निरखि बसन्त मोद महँ नाचें गावें ।
ह्वै विवस्त्र जल माँहिं करें क्रीड़ा सब न्हावें ॥
निरखे आवत वृषभ चढ़ि, पशुपति पारवती-सहित ।
ह्वै लज्जित सर तैं निकसि, पहिनत पट लोचन-चकित ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते—"राजन् ! अनजान में शर्मिष्ठा ने गुरु-पुत्री देवयानी के वस्त्र अपने समझ कर पहन लिये । इस पर अत्यन्त कुपित होकर देवयानी यह बोली—"अरे ! कैसे आश्चर्य की बात है. इस दासी का यह अत्यन्त निन्दनीय व्यवहार तो देखो । इसने मेरे पहनने के वस्त्रों को उसी प्रकार धारण कर लिया है, जैसे यज्ञ की हवि को कुतिया उठा ले जाय ।"

यौवन का उन्माद प्रायः सभी वयस्क एव स्वस्थ युवक युवतियों में होता है। यदि वे सम्पत्तिशाली, कुलीन, अधिकारारूढ या विशिष्ट वश के हुए, तो उनका उन्माद आवश्यकता से अधिक बढ़ जाता है। इसीलिये चढती अवस्था के धनिक युवती-युवकों से साधारण स्थिति वालों को विशेष सम्पर्क नहीं रखना चाहिये। वे क्षण में तुष्ट हो जाते हैं, क्षण में ही रुष्ट। धन-मद और यौवन-मद दोनों मिलकर युवावस्था में अनर्थ उत्पन्न न करे, तो समझना चाहिये, यह प्रभु की विशेष कृपा है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह तो मैं पहले ही बता चुका हूँ, कि शुक्राचार्य का अपनी पुत्री देवयानी पर अत्यधिक स्नेह था। प्रतीत होता है, देवयानी की माता उस समय नहीं थीं। पिता और पुत्री ही वृषपर्वा के यहाँ रहते थे। दानवेन्द्र वृषपर्वा के भी एक लाडली लडकी थी। उसका नाम शर्मिष्ठा था। वह भी बडी मानिनी थी, पिता के एक ही पुत्री थी। माता पिता उसे प्राणों की तरह प्यार करते, आँख की पुतली की भाँति रखते। जब शैशवावस्था को पार करके उसने यौवनावस्था में पदार्पण किया, तब उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग से यौवन का उन्माद छलकने लगा। वह धन मद और राज-मद से गर्वीली युवती हास-परिहास और बालसुलभ चचलता में ही अपना समय व्यतीत करने लगी। पिता ने उसी की अवस्था की सुन्दरी-सुकुमारी एक सहस्र सहेलियाँ उसके पास रख दी थीं। वे गा बजाकर, नाचकर तथा विविध भाँति से शर्मिष्ठा का मनोरञ्जन किया करती थीं। शर्मिष्ठा उन सबसे घिरी रानी मक्खी के समान दिखाई देती। गुरु पुत्री देवयानी भी कभी-कभी उसके यहाँ आती। गुरु-पुत्री समझकर सब उसका सम्मान करते, सभी उसके साथ शिष्टाचार का बर्ताव करते। घनिष्टता में शिष्टाचार रहता नहीं। शर्मिष्ठा शनैः-शनैः ढीठ हो

गई, राजपुत्री ही जो ठहरी ! देवयानी भी उससे भली-भाँति हिल-मिल गई थी। दोनों में सहेलीपने का सम्बन्ध तो था ही, फिर शर्मिष्ठा को राजपुत्री होने का अभिमान होना स्वाभाविक ही था। इधर देवयानी को भी गुरुपुत्री होने का अभिमान था। किन्तु घर मे कभी कोई अप्रिय घटना घटने का प्रसंग ही नहीं आया। दानवेन्द्र वृषपर्वा जितना ही प्यार अपनी पुत्री को करते थे, उतना ही, आदर देवयानी का। वे जो भी वस्त्र-आभूषण लाते, सदा दो-दो लाते, देवयानी को देकर तब वे शर्मिष्ठा को देते। इसलिये दोनो के वस्त्राभूषण समान ही रहते। दोनों ही सगी बहन सी प्रतीत होतीं।

एक दिन शर्मिष्ठा ने कहा—"जीजी ! वसन्त की ऋतु है, चलो, वन में चलकर विहार करें।"

देवयानी तो इसके लिये उत्कंठित ही रहती थी। उसने कहा—"अच्छी बात है। चलो चलें,बड़ा आनन्द रहेगा। संगीत का भी सब सामान हमारे साथ चलना चाहिये।"

राजाज्ञा होते ही वन-विहार की समस्त तैयारियाँ हो गई। सहस्र सखियों को साथ लिये हुए शर्मिष्ठा और देवयानी बड़े ठाट-बाट के साथ चलीं। सभी युवतियाँ थीं। सभी की नस-नस में यौवन का मद छाया हुआ था। एकान्त और वन पाकर सबकी चंचलता सीमा का उल्लङ्घन कर गई। सभी स्वेच्छा से नाचने, गाने और बजाने लगीं। कोई घूमने लगीं, कोई महुए के पुष्पों के पराग को पीने लगीं, कोई पुष्प चुनने लगीं, कोई माला गूंथने लगीं, कोई कोमल-कोमल पत्ते तोड़कर उसके दोने बनाने लगीं। विविध प्रकार के भोजन बने थे। सभी रुचि के अनुसार खातीं-पीतीं और हँसतीं; मानों उनके बीच आनन्द का सागर ही उमड़ रहा हो ! स्थल-क्रीड़ा करके, सबकी इच्छा जल-क्रीड़ा करने की

हुई। उद्यान में बड़ा भारी सरोवर था। उसके घाट वैदूर्य मणि के बने हुए थे। वहाँ कोई पुरुष तो था नहीं। सभी समवयस्का सहेलियाँ ही थीं। अतः अपने-अपने वस्त्रों को, घाटों पर उतार कर, वे नङ्गी होकर स्नान करने लगीं। कोई हँसती हुई किसी के ऊपर जल उछालतीं, कोई छींटे मार-मार कर दूसरी को भिगोती। कभी दो दल बन जाते और दोनों ही परस्पर पानी के छींटे मारते।

जल का एक नाम है जीवन। जल में वरुण का वास है। अतः जल में घुसते ही एक प्रकार की स्फूर्ति आती है। कैसा भी गंभीर मनुष्य हो, जल में घुसते ही उसका मुख खिल उठेगा। बच्चे जल में घुसते ही किलोलें करने लगते हैं, स्त्रियाँ हँसने लगतीं हैं। जल में एक प्रकार की शांति का अनुभव होता है। यदि शीत न हो, उष्णकाल हो, तब तो कहना ही क्या! जल का स्पर्श अत्यन्त ही सुखद होता है। यदि एक अवस्था के बहुत से युवक-युवतियाँ जल में साथ ही स्नान करें, हँसें, खेलें, तो फिर पृथ्वी पर ही स्वर्ग उतर आता है। सदा अन्तःपुर में रहने वाली स्त्रियों को तो स्वच्छन्द स्थान में अत्यधिक आनन्द आता है। वे लड़कियाँ किलोल कर रही थीं, उसी समय वायु-देवता को एक विनोद सूझा, तीर पर रखे हुए लड़कियों के वस्त्रों को गड़बड़ कर दिया। वे तो क्रीड़ा में निमग्न थीं, उन्हें पता भी न चला कि वायु वेग से चलने लगी है।

उसी समय एक लडकी की दृष्टि सम्मुख पड़ी। उसने देखा, भगवान् भूतनाथ भवानी के सहित बैल पर चढ़कर इधर ही आ रहे हैं। उसने संभ्रम के साथ शिवजी का आगमन सब को जताया। सब नंगी थीं, यह सोचकर लज्जित हुईं और शीघ्रता से जल से निकलकर वस्त्र पहनने लगीं। शर्मिष्ठा राजकुमारी थी,

छरहरी थी, उसमें चुलबुलाहट अधिक थी, सबसे पहले दौड़कर उसने ही साड़ी लपेट ली और सखियों ने भी अपने-अपने वस्त्र पहने। देवयानी ब्राह्मण-कुमारी थी। उसे अपने ब्राह्मणपने का भी अभिमान था। वह जानती थी, शिवजी मेरे पिता के सहपाठी हैं, इसलिये उसे अधिक संभ्रम न हुआ। वह शनैः शनैः निकली। तब तक शर्मिष्ठा ने साड़ी पहन ली थी। देवयानी और शर्मिष्ठा के वस्त्र सभी एक से ही होते थे। शर्मिष्ठा ने अनजान में शीघ्रता-वश देवयानी की साड़ी पहन ली।

जब देवयानी आई, उसने देखा, मेरी साड़ी तो शर्मिष्ठा ने पहन ली है। एक तो उसे गुरुपुत्री होने का अभिमान, दूसरे उसका स्वभाव भी कुछ उग्र। जो उसकी हाँ-में-हाँ मिलाता रहे, उसके सर्वथा अनुकूल बर्ताव करता रहे, उससे तो वह प्रसन्न रहती, किन्तु जिसने उसके मन के तनिक भी विरुद्ध कार्य किया कि उस पर उसका क्रोध सीमोल्लंघन कर जाता। उसे ऐसा लगा, मानों शर्मिष्ठा ने जान बूझ कर उसके वस्त्र पहन लिये हैं। इसलिये वह अत्यन्त कुपित होकर बोली—"शर्मिष्ठा! तुझे लज्जा नहीं आती? तू ने मेरी साड़ी क्यों पहन ली?"

अपनी भूल को स्वीकार करते हुए शर्मिष्ठा ने हँसकर कहा—"हाय! जीजी! भूल हो गई! शीघ्रता में मैं अपनी साड़ी पहचान ही न सकी।"

देवयानी ने और कुपित होकर कहा—"क्या अंधी है तू? अब मैं क्या पहनूँ?"

शर्मिष्ठा ने कहा—"मैंने तुम्हारी साड़ी ही तो पहन ली है? और वस्त्र तो तुम्हारे हैं ही। साड़ी तुम मेरी पहन लो। या मैं इसे उतार दूँ?"

इस पर तो देवयानी आपे से बाहर हो गई और बोली—

"तू हमारी दासी होकर ऐसी बात कह रही है ? तुझे लज्जा नहीं आती ? तेरी पहनी साडी मे कैसे पहन सकती हूँ ? तू क्षत्रिय-कन्या है, मैं ब्राह्मण की पुत्री ! ऐसे वैसे ब्राह्मण की भी नहीं, भृगुवंश मे उत्पन्न भगवान् उशना की। मैं उन भृगु के वंश की कन्या हूँ, जिन्होंने विष्णु भगवान् की छाती मे भी लात मारी थी और भगवान् को दशावतार धारण करने का शाप दिया था। तेरे पहने कपडे मैं छू भी नहीं सकती।"

अब तो शर्मिष्ठा को भी क्रोध आ गया। राजपुत्री ही जो ठहरी ! अतः रोष के स्वर मे बोली—"तू ब्राह्मण पुत्री है तो रह। किसी के ऊपर थोड़े ही चढ़ेगी ? मैं क्षत्रिय हूँ, तो तेरे घर माँगने तो जाती नहीं। कह रही हूँ, भूल हो गई, भूल हो गई। फिर आग बबूला हो रही है। जा, पहन ली हमने, कर ले, हमारा क्या करती है !"

दाँत पीसकर देवयानी ने कहा—"अच्छा, अब तो तू इतनी बढ़ गई है ! हमारी दासी होकर इतना साहस ! ब्राह्मण का इतना अपमान ! तेरा बाप तो सदा मेरे बाप के पैरों पर ही पड़ा रहता है। ब्राह्मणों को तू ने साधारण समझ रखा है ? वे परम पुरुष परमात्मा के मुख से उत्पन्न होने से सब वर्णों में मुख्य माने जाते हैं। उन्होंने ही अपने तपोबल से इस विश्व-ब्रह्माण्ड को बनाया है। उन्होंने ही वैदिक वर्णाश्रम धर्म का विस्तार किया है। तुम असुरों की तो बात ही क्या, देवता और लोक पाल भी उनके चरणों की वन्दना करते हैं। स्वयं श्रीमन्नारायण भी जिनकी स्तुति करते हैं, उन ब्राह्मणों मे भी हम भृगुवंशी हैं। क्या यज्ञ की हवि को कुतिया जूठी कर दे, तो उसे कोई ब्राह्मण खा सकता है ? इसी प्रकार मैं क्या तेरे पहने वस्त्र पहन सकती हूँ ?"

अत्यन्त ही क्रोध के स्वर मे शर्मिष्ठा ने कहा—देखना, बाणी

को सम्भालकर बोलना; नहीं, तेरी जीभ अभी निकलवा लूँगी। आई है बड़ी ब्राह्मणी! हमें कुतिया बताती है! तू कुतिया तेरा बाप कुत्ता ?"

इस पर देवयानी तो क्रोध के कारण जलने लगी। उसने कहा—"मेरा बाप कुत्ता है या सिंह, इसे अभी जानेगी। मेरे बाप ही तेरे बाप के राज्य को बचाये हुए हैं। उन्हीं के पीछे तू गुलछर्रे उड़ा रही है। मेरे बाप न होते, तो तू भूखों मर जाती, एक-एक दाने को तरसती।"

शर्मिष्ठा ने कहा—"अरी भिक्षुकी! बहुत बढ़-बढ़कर बातें मत बना। हम तेरी सब स्थिति जानती हैं। तू तो एक मुट्ठी अन्न के लिये हमारे महलों की ही ओर ताकती रहती है। तेरा बाप जब सीधा लाता है, तब तू खाती है। हमारे ही टुकड़े खाय और हमें ही देखकर भूँके! जिस पत्तल में खाना, उसी में छेद करना! बलिभोजी कुत्ते-कौए को जैसे हम लोग जूठा अन्न डाल देते हैं, वैसे ही तुझे भी दे देते हैं। तिस पर भी ऐसी लम्बी-चौड़ी दून हाँक रही है।"

देवयानी ने कहा—"तुम सब असुर हो। असुर तो नीच होते हैं। सर्पिणी के गर्भ से सर्पिणी ही होगी। आज मैं तुझे अपने किये का फल चखाऊँगी। यदि मैंने तुझसे इस अपमान का बदला न लिया, तो तू मेरा नाम बदलकर रख देना, मुझे शुक्राचार्य की कन्या न कहना।"

इतना सुनते ही शर्मिष्ठा को बड़ा क्रोध आया। उसने देवयानी के हाथ से जो उसके दो-चार वस्त्र थे, छीन लिये और उसे नंगी करके समीप के कुँए में ढकेल दिया। उसे ढकेल कर मानिनी शर्मिष्ठा सखियों को साथ लिये हुए अपने पिता के पुर में आ गई। एक दो ने कहा भी—"कुमारी! गुरुपुत्री के साथ ऐसा

व्यवहार उचित नहीं।" उसने डाँटकर सबसे कह दिया—"अब कोई देवयानी का प्रसङ्ग ही न चलावे।" इतना कहकर वह सखियों-सहित महल में चली गई।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! तब देवयानी का क्या हुआ? वह वैसे ही कूप में पड़ी रहीं या किसी ने उसे निकाला?"

सूतजी ने कहा—"मुनियो! भगवान् जो करते हैं, वह उचित ही करते हैं। देवयानी को महाराज ययाति ने कुँए से निकाला। उसका वृत्तान्त मैं आगे कहता हूँ।"

छप्पय

उलटे पुलटे वायुदेव ने पट अरु गहने।
गुरुपुत्री के वस्त्र भूलि शर्मिष्ठा पहने॥
शुक्रसुता ने कहीं बहुत अन कहनी बानी।
वृषपर्वा की सुता सुनत मन माँहिँ रिसानी॥
अन्धकूप धक्का दियो, गिरी देवयानी तबहिँ।
छाँड़ि विवस्रा कूपमहँ, आई लै पुर महँ सबहिँ॥

# देवयानी और ययाति

[ ७५६ ]

तस्यां गतायां स्वगृहं ययातिर्मृगयां चरन् ।
प्राप्तो यदृच्छया कूपे जलार्थी तां ददर्श ह ॥
दत्त्वा स्वमुत्तरं वासस्तस्यै राजा विवाससे ।
गृहीत्वा पाणिना पाणिमुज्जहार दयापरः ॥१

(श्री भा० ६ स्क० १८ अ० १८, १६ श्लोक)

छप्पय

दैवयोग तैं नृप ययाति मृगया-हित आये ।
नंगी निरखी कूप देवयानी सकुचाये ॥
दयो दुपट्टा डारि दयावश तुरत निकासी ।
दया उलटि कैं परी भूप के गर महँ फाँसी ॥
पितु ढिंग आई दुखित ह्वै, द्विज-तनया नृप वरि लये ।
सुनि घटना तनया-सहित, उशना अति दुःखित भये ॥

---

१ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! शर्मिष्ठा जब घर चली गई, तब दैवयोग से मृगया करते हुए राजा ययाति वहाँ पहुँचे । जल की इच्छा से उन्होंने ज्योंही भीतर देखा, वहाँ देवयानी दिखाई दी, त्योंही दया के वश हुए राजा ने उस विवस्त्रा को अपना दुपट्टा देकर अपने हाथ से उसका हाथ पकड़कर कुँए के बाहर निकला ।"

सरल चित्त के स्त्री-पुरुष पहले तो किसी पर क्रोध करते ही नहीं। कदाचित किसी के प्रति उन्हें क्रोध हो जाय, तो कुछ देर में वह शान्त हो जाता है। उनका क्रोध पानी की लकीर के समान होता है। पानी में लकीर करते चलो, पीछे से मिटती चलेगी। कुछ ऐसे मध्यम श्रेणी के पुरुष होते हैं, जिनका क्रोध बालू के लकीर के समान होता है। कुछ देर तक तो बालू में लकीर दिखाई देती है, जहाँ वायु आई कि लकीर मिटकर बराबर हो जाती है। कुछ ऐसे क्रोधी प्रकृति के पुरुष होते हैं, जिनका क्रोध पत्थर की लकीर के समान स्थाई होता है, जो कभी मिटती ही नहीं। यदि किसी ने उनका कुछ तनिक-सा भी अपकार कर दिया, तो वे प्रति हिंसा की ज्वाला से जल उठते हैं और जीवन भर उसे स्मरण रखते हैं।

श्री सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वृषपर्वा-पुत्री शर्मिष्ठा देवयानी को कुएँ में ढकेल कर चली गई। उसने समझा, देवयानी मर गई होगी, किन्तु भाग्य की बात! वह कुँआ बहुत गहरा नहीं था, न उसमें जल ही था। घास-फूस से आवृत वह अंध-कूप था। नङ्गी देवयानी उसमें, पेट में घुटने लगाकर, बैठ गई। उसके रोम-रोम से क्रोध निकल रहा था, उसने मन ही मन प्रतिज्ञा की, वह शर्मिष्ठा से इसका बदला अवश्य लेगी और शर्मिष्ठा का जितना भी अपमान, जिस प्रकार भी कर सकेगी, करेगी। कुएँ में बैठी-बैठी वह क्रोध से जल रही थी, उसे कोई उपाय नहीं सूझता था।

दैवयोग से नहुष-पुत्र महाराज ययाति मृगया करते-करते उधर आ निकले। वे अपनी राजधानी से सेना तथा मन्त्रियों के साथ मृगया के निमित्त निकले थे। मार्ग में उन्होंने एक बड़ा भारी शूकर देखा। उसके पीछे उन्होंने अपना घोड़ा डाल दिया।

सेना के सभी पुरुष पीछे रह गये। एक सघन वन में जाकर वह शूकर तो कहीं छिप गया और राजा भूख और प्यास के कारण व्याकुल हो उठे। उनका घोड़ा भी थक गया था। वे जल ढूँढते ढूँढ़ते दैवयोग से उसी कुएँ में झाँकने लगे। उसमें जल तो था नहीं, एक परम सुन्दरी युवती नङ्गी बैठी हुई थी। उसके कानों के दिव्य कुण्डल सूर्य-चन्द्र के समान चमक रहे थे। उनके प्रकाश में उसका सुवर्ण वर्ण का शरीर अग्नि की राशि के समान प्रकाशित हो रहा था। इतनी सुन्दरी युवती को, कुएँ में पड़ी देखकर, राजा को आश्चर्य भी हुआ और दया भी आई। वे बोले—"सुन्दरि! तुम कौन हो? इस कूप में क्यों पड़ी हो? मैं तुम्हारा क्या उपकार कर सकता हूँ?"

कुएँ में से ही देवयानी ने कहा—"वीर! मैं असुर-गुरु भगवान् शुक्राचार्य की पुत्री हूँ। वे दानवेन्द्र वृषपर्वा के पूजनीय पुरोहित हैं। वे युद्ध में मरे हुए असुरों को अपनी मृत-संजीवनी-विद्या के प्रभाव से जिला देते हैं। राजन्! दुर्भाग्यवश में कूप में गिर गई हूँ। मेरे तेजस्वी-तपस्वी पिता को इसका पता नहीं। आप कृपा कर मुझे इस कूप से बाहर करें।"

यह सुनकर महाराज ययाति को आश्चर्य हुआ। उन्होंने अपना उत्तरीय वस्त्र कुएँ में फेंकते हुए कहा—"सुन्दरि! तुम इस वस्त्र को अपने शरीर पर लपेट लो, मैं तुम्हें अभी कूप से बाहर करता हूँ।"

देवयानी ने राजा का रेशमी वस्त्र अपने अङ्गों में लपेट लिया। अब राजा ने घोड़े की लगाम और रस्सी को बाँधकर कुएँ में फाँसा। अब देवयानी उसे पकड़ कर चढ़ने लगी। तुरन्त राजा ने उसके सुन्दर कोमल हाथ पकड़ कर उसे कुएँ के बाहर निकाल लिया। राजा उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो गये थे। राजा सुन्दर

थे, युवक थे। उनका चित्त चञ्चल हो गया। फिर भी उसे ब्राह्मण पुत्री समझकर उन्होंने अपने मन को बल पूर्वक उसकी ओर से हटाना चाहा। मनुष्य के हृद्गत भाव तो छिपे रहते नहीं! देवयानी राजा के भाव को ताड़ गई। उसका भी चित्त राजा के रूप-माधुर्य में फँस चुका था। अतः वह बोली—"राजन्! तुमने मेरा पाणि ग्रहण किया है। अब जीवन भर उसे निभाना होगा।

आश्चर्य प्रकट करते हुए महाराज ययाति ने कहा—"देवि! तुम अधर्म की कैसी बात कर रही हो? सम्भव है, तुम मुझे जानती नहीं। मैं महाराज नहुप का पुत्र हूँ। ययाति मेरा नाम है। जाति का मैं क्षत्रिय हूँ। भगवान् शुक्राचार्य को मैं जानता हूँ। तुम उनकी प्यारी पुत्री हो, इसका भी मुझे पता है। मैं क्षत्रिय होकर तुम्हारे साथ विवाह कैसे कर सकता हूँ? यह जो मैंने तुम्हारा पाणि-ग्रहण किया है, वह धर्म-पूर्वक नहीं, अपितु आपत्ति काल में।"

देवयानी ने कहा—"अब चाहे, कैसे भी किया, आपने मेरा पाणि-ग्रहण तो कर ही लिया। सुकृति पुरुष अङ्गीकार किये हुए का प्रतिपालन करते ही हैं। आप शूरवीर हैं, शत्रुओं के पुर को जीतने वाले हैं, अपनी प्रतिज्ञा पर मर मिटने वाले हैं। देखिये जिस मेरे हाथ को आपने पकड़ लिया है उसे कोई दूसरा पुरुष न पकड़ने पावे।"

राजा ने कहा—"देवि! ऐसे थोड़े ही विवाह होता है, विवाह में तो मन्त्र पढ़े जाते हैं, पुरोहित हाथ पकड़वाता है। यह तो मैंने तुम्हें कुएँ में से निकालने को हाथ पकड़ा था।"

देवयानी बोली—"विवाह में पुरोहित हाथ पकड़वाता है, यहाँ भगवान् ने ही हाथ पकड़ा दिया। हमारा आपका सम्बन्ध मनुष्य-कृत नहीं, किन्तु ईश-कृत है। नहीं तो, आप ही सोचें आप

ही यहाँ क्यों आये, कोई दूसरा क्यों नहीं आया, आपने ही मेरा हाथ क्यों पकड़ा। इन सब बातों से यही समझना चाहिये कि भगवान् को यही इच्छा है। मैं निर्दोपी हूँ, मुझे मेरी सहेली ने द्वेपवश कुएँ में ढकेल दिया है। आप मुझे ग्रहण करने में किसी प्रकार की शंका न करें।

इस पर शीघ्रता के साथ राजा ने कहा—"नहीं, नहीं, मुझे तुम्हारी कुलीनता के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं। तुम्हारी जैसी रूपवती युवती को पाकर मैं कृतार्थ हो जाऊँगा। किन्तु मैं धर्म से डरता हूँ। क्षत्रिय होकर मैं ब्राह्मण की कन्या को कैसे ग्रहण करूँ ?"

देवयानी ने कहा—"आप इसकी तनिक भी चिन्ता न करें ऐसा तो होना ही था। कोई भी ब्राह्मण-कुमार मुझे वरण करेगा-बृहस्पति के पुत्र कच ने मुझे ऐसा ही शाप दे दिया है। मैंने भी उसे शाप दिया था। अतः पति तो मेरा कोई क्षत्रिय राजर्षि ही होता। और आज संसार में आपसे बढ़कर कुलीन, सदाचारी धर्मात्मा, यशस्वी, तेजस्वी कोई राजर्षि है नहीं ! इसीलिये इसे आप विधि का विधान ही मान लें। मेरे पिता भी इस सम्बन्ध का समर्थन अनुमोदन करेंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! कहावत है—"अन्धे, तुझे क्या चाहिये ? दो आँखें।" महाराज ययाति तो यह चाहते ही थे। राजा का मन तो उसके गोल-गोल कपोल और बड़ी-बड़ी आँखों में उलझ ही गया था। उन्होंने कहा—"अच्छी बात है, जब शुक्राचार्य भगवान् मुझे आज्ञा देंगे, तब तो कोई बात ही नहीं। उनकी आज्ञा का तो उल्लंघन देवराज इन्द्र भी नहीं कर सकते।" ऐसा कहकर और देवयानी से अनुमति लेकर वे अपने पुर को चले गये।

इधर जब बहुत देर तक भी देवयानी नहीं आई, तब शुक्राचार्य को चिन्ता हुई। उन्होंने देवयानी की दासी घूर्णिका से कहा—"घूर्णिके! देवयानी अभी तक नहीं आई। प्रातःकाल वह वृषपर्वा के महलों मे गई थी। इतनी देर तो वह कभी लगाती नहीं थी। तू जाकर उसका समाचार तो ला।"

आचार्य की आज्ञा पाकर घूर्णिका वृषपर्वा के महलों मे आई। उसने शर्मिष्ठा से पूछा। शर्मिष्ठा ने उसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया, कह दिया—"हमको क्या पता ?"

घूर्णिका की एक सहेली ने चुपके से एकान्त मे सब बातें उसे बता दी। घूर्णिका उस सरोवर के समीप के कूप के पास दोडी गई। वहाँ उसने राजा के रेशमी उत्तरीय को लपेटे रोती हुई देवयानी को देखा। उसे देखकर आदर और स्नेह के साथ घूर्णिका ने कहा—"गुरुपुत्री! तुम इतनी अधीर क्यो हो ? चलो, जो हुआ, सो हुआ। अब तुम घर लौट चलो। आचार्य अत्यन्त ही अधीर हो रहे हैं।"

देवयानी ने कहा—"घूर्णिके! मैं वृषपर्वा के पुर म पैर न रखूँगा। तू मेरे पूजनीय पिता को जाकर सब वृत्तान्त बताना और मेरे निश्चय को भी कह देना।"

घूर्णिका तुरन्त ही लौटकर शुक्राचार्य के समीप गई और उन्हे आदि से अन्त तक सब वृत्तान्त बताकर कह दिया—"शर्मिष्ठा ने तो प्राण लेने के निमित्त ही उसे कुएँ म गिरा दिया था। वह भाग्यवश बच गई। नहुष-नन्दन राजर्षि ययाति ने हाथ पकड कर उसे बचा लिया।"

अपनी पुत्री की ऐसी दुर्दशा सुनकर शुक्राचार्य की आँखो म आँसू आ गये। वे तुरन्त अपनी पुत्री से मिलने घूर्णिका के साथ चल पड़े। दूर से ही अपने पिता को आते देखकर देवयानी रोने

लगी। शीघ्रता से शुक्र ने जाकर अपनी प्यारी पुत्री को छाती से चिपटा लिया, उसके सिर पर हाथ फेरते हुए बोले—"बेटी! इतनी अधीर मत हो। दुःख सुख सदा भाग्य से ही होते हैं। पूर्व जन्म का तेरा कोई ऐसा ही अनिष्ट रहा होगा। वह भोग से समाप्त हो गया। तू किसी को दोष मत दे, यह सब तो प्रारब्ध का खेल है।"

देवयानी ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"चाहे जिस कारण यह दुःख मुझे हुआ, मैं वृषपर्वा के पुर में अब पैर न रखूँगी, यह मेरी अटल प्रतिज्ञा है।"

शुक्राचार्य बोले—"देखो, बेटी! हठ नहीं करना चाहिये। कौन किसी को सुख दुःख दे सकता है? सब जीव स्वकर्म-सूत्र से आबद्ध होकर समस्त चेष्टायें करते हैं। संसार में सबसे बड़ा शत्रु क्रोध है। बुद्धिमान् पुरुष को कभी क्रोध के वशीभूत न होना चाहिये।"

देवयानी ने कहा—"पिताजी! मुझे अपने अपमान से उतना क्रोध नहीं है। वृषपर्वा की पुत्री ने आपको स्तुतिकर्ता, भिखमङ्गा, याचक और दान लेने वाला बताया है। यदि आप असुरों की स्तुति करके उनसे दान लेकर जीविका चलाते हैं, तो मैं इस वृत्ति को नहीं चाहती। यह घोर अपमान है।"

शुक्राचार्य ने हँसकर कहा—"नहीं, बेटी। मैं किसकी स्तुति करता हूँ। उलटे सभी असुर ही मेरी स्तुति करते हैं। मैं किसी के सम्मुख हाथ नहीं फैलाता। असुर ही सदा मेरी सेवा में संलग्न रहते हैं। मैं स्वर्ग तथा पृथ्वी का स्वामी हूँ। इन्द्र और ययाति भी मेरे प्रभाव को जानते हैं। शर्मिष्ठा ने क्रोध में भरकर कुछ कह दिया होगा। तू अब क्रोध का परित्याग कर दे, शर्मिष्ठा के अपराधों को क्षमा कर दे।"

देवयानी ने कहा—"पिताजी ! मैं शर्मिष्ठा को कभी क्षमा नहीं कर सकती। उसके प्रति मेरा जो क्रोध हुआ है, वह कभी भी शान्त न होगा।

शुक्राचार्य ने अत्यन्त ही ममता के साथ प्रेम पूर्वक कहा— ना, बेटी ! ऐसा नहीं। क्रोध पाप का मूल है। जिसने क्रोध को जीत लिया, उसने सब को जीत लिया। पर यह सब का काम नहीं है। एक सहस्र वर्ष की तपस्या और एक बार का जीता हुआ क्रोध—दोनों में क्रोध का जीतना ही श्रेष्ठ है। जो दूसरों की, की हुई निन्दा को सह लेता है, उत्तर में निन्दकों की निन्दा नहीं करता, जो पीड़ा पहुचाने वाले से भी प्रेम करता है, दुःख देने वाले को भी क्षमा कर देता है, वह अक्षय लोकों का अधिकारी होता है। लड़के लड़का आपस में लड़ते ही रहते हैं। इसमें बड़ों को सम्मिलित न होना चाहिये।"

देवयानी ने कहा—"पिताजी ! आप तो इन अधम असुरों का पक्षपात करते हैं। ये सदा दुष्टता ही करते रहते हैं। देखिये, कच को इन्होंने अकारण तीन बार मार डाला। आपके पेट में इन्होंने उसे पहुँचा दिया, यह भी न सोचा, इससे गुरु का अनिष्ट होगा। ये सब बड़े स्वार्थी हैं, क्रूर हैं। इन्हें अपने बल पराक्रम का बड़ा अभिमान है। इसी अभिमान के वशीभूत होकर शर्मिष्ठा ने मुझसे ऐसी न कहने योग्य बातें कहीं और मुझे कूप में ढकेल दिया। ऐसे जीवन से तो मर जाना ही अच्छा। मैं इन अभिमानियों के पुर में पैर भी न रखूंगी। सब कुछ क्षमा कर सकती हूँ, किन्तु शर्मिष्ठा ने जो मेरा घोर अपमान किया है, उसे मैं जीवन पर्यन्त क्षमा नहीं कर सकती। आप तो इन असुरों को मरने पर जिलाते हैं, ये हमें मारने के लिये ही सदा उद्यत रहते हैं। सर्पों को चाहे जितना भी दूध पिलाइये, उससे उनका विष ही बढ़ेगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! शुक्राचार्यजी तो अपनी कन्या के अधीन थे। वे उसे प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे। अतः वे बोले—"हाँ, इन दुष्टों की सेवा करनी व्यर्थ है। यह पौरोहित्य कार्य ही निन्दनीय है। अपने तो ब्राह्मण ठहरे। दाना-दाना बीन-कर उसी पवित्र अन्न से निर्वाह करेंगे। अच्छा, चल, मैं भी इन असुरों की पुरी को छोड़ता हूँ।" यह कहकर वे अपनी पुत्री के कन्धे पर हाथ रखकर चल दिये।

### छप्पय

भृगुसुत कीन्हीं शान्त न मानी सुता हठीली।
लाड़-प्यार महँ पली लड़ैती अति गरबीली॥
पुत्री हठ कूँ मानि त्यागि वृषपर्वा पुर कूँ।
चले सुता सँग शुक्र त्यागि नृप शिष्य असुर कूँ॥
सुनि सब सुर हरषित भये, असुरनि के छक्के छुटे।
यदि गुरु तजि सुरपुर गये, तो अघबरमहँ हम लुटे॥

—★—

# शर्मिष्ठा देवयानी की दासी बनी

[ ७५७ ]

स्वानां तत् सङ्कटं वीक्ष्य तदर्थस्य च गौरवम् ।
देवयानीं पर्यचरत् स्त्रीसहस्रेण दासवत् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १८ अ० २९ श्लोक)

छप्पय

*पुत्री सँग गुरु जहाँ, तहाँ सब दानव आये।*
*गुरु चरननि महँ परे विविध विधि शुक्र मनाये॥*
*शांत भये गुरु कहें-सुता कूँ नृपति! मनाओ।*
*सुनि नृप पैरनि परे देवि! अब लाज बचाओ॥*
*दासी शर्मिष्ठा बने, गुरु-पुत्री बोली—कहूँ।*
*सब सेवा सादर करै, सहस सखिन सँग जहँ रहूँ॥*

लाड़-प्यार जब पराकाष्ठा को पहुँच जाता है, तब वह अनर्थ की सृष्टि करता है। प्रेम में पक्षपात हो जाना स्वाभाविक है, किन्तु विवेकी पुरुष अधिक हठ नहीं करते। वे भाग्य-भरोसे मान-अपमान भूल जाते हैं। जिसका अपने शरीर के ही प्रति ममत्व है, अपने आपको ही जो सुखी बनाये रखना चाहता है,

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! शर्मिष्ठा ने जब अपने समस्त सम्बन्धियों पर संकट आते देखा, तब वह उनके कार्य के गौरव को समझ कर सहस्र सखियों-सहित दासी के समान देवयानी की सेवा करने लगी।"

वह दूसरों से क्या प्रेम करेगा ? प्रेम में तो प्यारी-से प्यारी वस्तु का भी बलिदान करना होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब शुक्रपुत्री देवयानी ने असुरों की अत्यन्त बुराई की, शुक्राचार्य के मन में यह बात बैठ गई—"ये असुर बड़े स्वार्थी हैं। इनकी हमारे प्रति श्रद्धा नहीं। कुछ श्रद्धा-प्रेम प्रकट भी करते हैं, तो केवल स्वार्थ-सिद्धि के ही लिये। इन दुष्टों का त्याग ही देना चाहिये।" यह सोचकर वे देवयानी से बोले—"बेटी ! यद्यपि मैं यहाँ का आचार्य हूँ, सब मेरी प्रतिष्ठा करते हैं, फिर भी यह पौरोहित्य-वृत्ति अत्यन्त निन्दनीय तथा गर्ह्य है। हम ब्राह्मणों की सर्वश्रेष्ठ वृत्ति तो यही है कि पक्षी की भाँति कहीं भी पड़ रहें, दाना-दाना चुन-चुन कर पेट भर लिया करें। संग्रह से-धनिकों के आश्रय से-ब्रह्मतेज नष्ट हो जाता है। प्राणों को धारण करना है, तो घी-दूध मलाई से भी उनकी रक्षा हो सकती है, और स्वच्छन्द वन में उत्पन्न शाक-पात से भी। फिर इस पापी पेट के लिये इतने पाप क्यों करें ? यजमान पुरोहित को पाप ही पाप तो देता है। इसलिये मैं भी अब इन असुरों के साथ रहना नहीं चाहता। चलो कहीं एकान्त में प्रभु की आराधना करें।"

यह सुनकर देवयानी परम प्रसन्न हो अपने पिता के साथ चलने लगी। इधर क्षणभर में यह बात सर्वत्र फैल गई, कि शुक्राचार्य ने असुरों का परित्याग कर दिया। अब क्या था ? सर्वत्र हलचल मच गई। देवता यह सुनकर अत्यन्त ही हर्षित हुए। उन्होंने वृषपर्वा के ऊपर चढ़ाई करने की तैयारियाँ कर दीं। असुरों के छक्के छूट गये। वृषपर्वा सुनते ही नंगे पैरों दौड़े आये। उन्होंने देखा, देवयानी के सहित दंड-कमंडलु लिये शुक्राचार्य वन को ओर जा रहे हैं आते ही वृषपर्वा आचार्य के चरणों

में गिर गया। सब असुर भी गुरु को घेर कर खड़े हो गये। देवयानी उनसे हटकर सघन वृक्ष की छाया मे खड़ी हो गई।

शुक्राचार्य ने हाथ जोड़े दैत्यो को देखकर पूछा—"तुम लोग क्या चाहते हो?"

वृषपर्वा ने कहा—"गुरुदेव! हम आपकी कृपा चाहते हैं। आप नगे पैरों पैदल ही पुत्री-सहित कहा पधार रहे हैं?"

शुक्राचार्य बोले—"जहाँ मेरी इच्छा होगी, वहाँ जाऊगा। मैं तुम नीचों के समीप नहीं रहूँगा। तुम लोग कृतघ्न हो, स्वार्थी हो, दुष्ट हो, तुम्हारे राज्य में अब मैं नहीं रहूँगा।"

वृषपर्वा ने दीनता के स्वर म कहा—"क्यो प्रभो! हमसे ऐसा कौन-सा अपराध बन गया? हमने तो अपने जानने मे आपके विरुद्ध कोई भी आचरण नहीं किया।"

दाँत पीसकर शुक्राचार्य बोले—"मुझसे अपराध पूछते हो? धर्मज्ञ, गुरु सेवा परायण, सदाचारी मेरे शिष्य कच को, जो अङ्गिरा का पौत्र और बृहस्पति का पुत्र था, तुम लोगों ने तीन-तीन बार मार डाला। क्या यह मेरे साथ विश्वासघात नहीं है? उसकी राख को सुरा के साथ मुझे पिला दिया। क्या यह मेरे प्रति श्रद्धा का द्योतक है? आज तुम्हारी पुत्री ने मेरी पुत्री को मार ही डाला था, भाग्यवश बच गई। क्या यही तुम्हारी गुरु-भक्ति है? ऐसे निर्दयी, क्रूर, हत्यारे पुरुषो के साथ मैं रह नहीं सकता।"

वृषपर्वा ने कहा—"गुरुदेव! आप धर्मात्मा, सदाचारी, सत्यवादी और सर्वज्ञ हैं, हम सबके स्वामी और जीवन-दाता हैं। बालकों से तो अपराध बन ही जाता है। बड़े लोग सदा उन्हें क्षमा करते ही रहते हैं। हे गुरुवर्य! आपके बिना हमारी कोई गति नहीं है।"

शुक्राचार्य ने कहा—"मुझे इससे क्या प्रयोजन ? जब तुम लोग हमारे विरुद्ध आचरण करते हो, तब हम तुम्हारे समीप रह कर क्या करेंगे ? जब तुम हमें भिक्षुक और आश्रित समझते हो तब हम सम्मान पूर्वक तुम्हारे यहाँ कैसे रह सकते हैं ?"

कानों पर हाथ रखकर वृषपर्वा ने कहा—"प्रभो ! आप कैसी बात कह रहे हैं ? मेरे राज्य, धन, कोष, सेना, परिवार तथा शरीर के स्वामी आप ही हैं। मेरा सर्वस्व आपका है। मैं आपका शिष्य, सेवक, दास, आश्रित और अनुचर हूँ।" ब्राह्मण का क्रोध तो क्षणभर का होता है। वृषपर्वा को रोते गिड़गिड़ाते देखकर क्षणार्धमन्यु भगवान शुक्र प्रसन्न हुए और बोले—"राजन्! सच्ची बात तो यह है, कि यह देवयानी मुझे प्राणों से अधिक प्यारी है। इसे मैं दुःखी नहीं देख सकता। यदि तुम मुझे यहाँ रखना चाहते हो, तो जैसे भी हो, वैसे इसे प्रसन्न कर लो। मैं तो प्रसन्न हूँ ही।"

अब वृषपर्वा को भरोसा हुआ। उसने आचार्य के चरणों को छोड़कर गुरु-पुत्री के पैर पकड़े और दीन होकर बोला—"बहन ! हमारा जीवन तुम्हारे अधीन है। तुम चाहो तो हम सबको प्राणदान दे सकती हो और चाहो तो हमारा सर्वनाश कर सकती हो।"

देवयानी ने कहा—"राजन् ! हम तो तुम्हारे घर की भिखारिन हैं, तुम्हारे टुकड़ों पर पलती हैं।"

वृषपर्वा ने कहा—"बहन ! तुम ऐसी बात मुख से मत निकालो। तुम हम सबकी स्वामिनी हो। हमारा सर्वस्व तुम्हारा है।"

देवयानी ने कहा—"क्या यह तुम सत्य बात कह रहे हो ?"

वृषपर्वा ने कहा—"सर्वथा सत्य। इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं, बनावट नहीं।"

देवयानी बोली—"तो, फिर मैं तुमसे जो कहूँगी, उसे तुम मानोगे?"

दृढ़ता के स्वर में वृषपर्वा ने कहा—"अवश्य। इसमे आप तनिक भी शंका न करें।"

देवयानी ने कहा—"यदि शर्मिष्ठा जीवन-भर मेरी दासी बनकर रहने को तैयार हो, तो मैं पिता-सहित तुम्हारे पुर मे चल सकती हूँ।"

हँसकर वृषपर्वा ने कहा—"गुरु-पुत्री! इसमे तो तुमने कोई नई बात कही नहीं। जब मैं स्वयं ही तुम्हारा दास हूँ, तो पुत्री की तो बात ही क्या?"

देवयानी ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"देखिये, राजन्! ये सब तो हैं शिष्टाचार की बातें। बात यह है कि अपनी सहस्र सखियों के साथ शर्मिष्ठा मेरी दासी बनकर रहे, मेरे पिता जहाँ भी मेरा विवाह करें, वहाँ भी जीवन-पर्यन्त वह मेरे ही साथ रहे।"

अब तो वृषपर्वा का माथा ठनका। विषय बड़ा गम्भीर था। शर्मिष्ठा अत्यन्त लाड़-प्यार मे पली थी, पिता की प्राणों से प्यारी पुत्री थी। वह अत्यन्त सुकुमारी और मानिनी थी। उससे जीवन-भर दासता कैसे होगी?'—राजा इसी चिन्ता मे मग्न हो गये। किन्तु करते क्या? उधर देवता उनके सिर पर चढ़े हुए थे, उन पर आक्रमण करने को उद्यत थे। 'अब वे मृतसंजीवनी विद्या भी सीख गये हैं। शुक्राचार्य चले गये, तो हमारा सर्वनाश ही हो जायगा।'—यही सोचकर वृषपर्वा ने शर्मिष्ठा की धाय को बुलाया और उससे कहा—"धाय! तुम अभी जाओ, शर्मिष्ठा को यहाँ ले आओ। सम्पूर्ण कुल को सङ्कट से बचाना अब उसी के हाथ है।"

धाय राजा की आज्ञा पाकर, तुरन्त अन्तःपुर में जाकर, शर्मिष्ठा से बोली—"शर्मिष्ठा! आज तेरे ऊपर अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण कार्य-भार आ पड़ा है। शुक्राचार्य सभी असुरों को छोड़े जा रहे हैं। इधर देवता असुरों पर चढ़ाई कर रहे हैं। देवयानी इस हठ पर अड़ी हुई है कि शर्मिष्ठा सहस्र सखियों सहित जब तक मेरी दासी न बनेगी, तब तक मैं नगर में पैर न रखूँगी। शुक्राचार्य देवयानी को कितना प्यार करते हैं, यह बात तुमसे अविदित नहीं। उसे छोड़कर शुक्राचार्य कभी पुर में लौट नहीं सकते। अब तुम्हें जो उचित जान पड़े वह करो।"

शर्मिष्ठा सोच में पड़ गयी। वह राजपुत्री थी, बुद्धिमती थी। आगे-पीछे, ऊँच-नीच का उसे बोध था। वह विचारने लगी—'यदि मैं भी हठ पर अड़ती हूँ, तो शुक्राचार्य अवश्य ही असुरों को छोड़ कर चले जायँगे। इससे मेरी सम्पूर्ण जाति पर आपत्ति आ जायगी। यदि मैं अकेले दासी बन जाती हूँ, तो मेरा समस्त कुल बच जाता है। इसके लिये एक का बलिदान भी हो जाय, तो वह सर्वोत्कृष्ट बलिदान माना जायगा।" यह सोचकर उसने दासी बनने का मन में दृढ़ निश्चय कर लिया। वह तुरन्त सहस्र सखियों-सहित शिविका में सवार होकर अपने पिता के समीप गई। वहाँ उसने देखा, सभी असुर हाथ जोड़े उदास खड़े हैं। उसके पिता वृषपर्वा देवयानी के पैर पकड़े रो रहे हैं। शुक्राचार्य एक ओर बैठे हैं। भृकुटियों को चढ़ाये हुए क्रुद्ध सिंहनी की भाँति देवयानी चुपचाप बैठी है। शर्मिष्ठा ने जाते ही देवयानी के पैर पकड़े और विनीत भाव से कहा—"जीजी! मेरे अपराधों को क्षमा करो। मेरे पिता पर प्रसन्न हो जाओ। असुरों को अभय प्रदान करो। मैं जीवनपर्यन्त तुम्हारी दासी बनकर रहूँगी। तुम्हारे पिता जहाँ भी तुम्हारा विवाह करेंगे,

दो सहस्र दासियों के सहित में भी तुम्हारी सेवा मे पीछे-पीछे चलूँगी।"

हँसकर देवयानी ने कहा—"राजपुत्री! तुम तो सम्राट् की पुत्री हो, मैं तो एक स्तव करने वाले भिक्षुक की पुत्री हूँ। तुम मेरी सेवा कैसे कर सकती हो?"

लज्जित होकर शर्मिष्ठा ने कहा—"बहन! ये सब बातें मैंने क्रोध में कही थीं। उनके लिये मैं दुःखी हूँ। मैं अपनी पराजय और तुम्हारी जय स्वीकार करती हूँ। मैं धर्मपूर्वक निष्कपट भाव से जीवन-पर्यन्त तुम्हारी दासी बनकर रहूँगी।" इतना सुनते ही देवयानी प्रसन्न हो गई। उसने जाकर अपने पिता के पैर पकड़े और प्रसन्नता प्रकट करती हुई बोली—"पितृदेव! यथार्थ मे आप असुरों की समस्त सम्पत्ति के स्वामी हैं। हे द्विजवर्य! आपकी शक्ति अमोघ है। आपकी विद्या और विज्ञान का बल अचिन्त्य है। आपने मेरा प्रण पूरा कराया। अब मैं प्रसन्नतापूर्वक वृषपर्वा के पुर मे चल सकती हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर सभी को प्रसन्नता हुई। महायशस्वी द्विजवर शुक्राचार्य अपनी पुत्री सहित पुर की ओर चले। शर्मिष्ठा सहस्र सखियों के सहित दासी की भाँति देवयानी का अनुगमन करने लगी। सब असुर भी हाथ जोड़े उनके पीछे चल पड़े इस प्रकार देवयानी पुनः अपने घर में आई। अब शर्मिष्ठा देवयानी के ही यहाँ रहकर दासी की भाँति समस्त कार्य करने लगी।"

छप्पय

सुनि वृषपर्वा तुरत बुलाई सुता दुलारी।
बन्धु विपति सुनि असुरकुमारी बात विचारी॥
यदि दासी हौं बनूँ निरापद होवें परिजन।
परस्वारथ महँ लगे वही बड़ भागी है तन॥
गुरु-पुत्री पद पकरि कें, बोली दासी बनूँगी।
जहाँ विवाहें पिता तव, तहाँ संग ही चलूँगी॥

# देवयानी का ययाति के साथ विवाह

[ ७५८ ]

नाहुषाय सुतां दत्त्वा सह शर्मिष्ठयोशना ।
तमाह राजञ्छर्मिष्ठामाधास्तल्पे न कर्हिचित् ॥*
(श्री भा० ६ स्क० १८ अ०, ३० श्लो०)

छप्पय

शर्मिष्ठा नृप-सुता देवयानी की दासी ।
बनी, असुर भय-रहित भये, परि चित्त उदासी ॥
प्रतिहिंसा महँ पगी देवयानी इतरावै ।
शर्मिष्ठा तैं सदा चरन-सेवा करवावै ॥
वाही वन महँ एक दिन, पुनि ययाति आये नृपति ।
गुरु-पुत्री प्रस्ताव पुनि, कर्यो, देव ! अब होहु पति ॥

संस्कार दो प्रकार के होते हैं, एक तो साधारण, दूसरे प्रबल । हमारा मार्ग में किसी उत्सव-पर्व के अवसर पर किसी से सम्मिलन हुआ । परस्पर प्रेम हो गया, दोनों एक-दो दिन साथ रहे । वे भी हमें भूल गये, हम भी उन्हें भूल गये । यह साधारण संस्कार है । दूसरा प्रबल संस्कार यह है कि जिनसे एक बार भेंट हुई,

---

* श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन् ! तदनन्तर शुक्राचार्यजी ने शर्मिष्ठा के सहित अपनी कन्या ययाति को देते हुए कहा—"राजन् ! इस शर्मिष्ठा को तुम अपनी पर्यङ्कशयनी कदापि मत बनाना ।"

प्रेम हो गया, वे भुलाने से भी न भूलें, हमारे जीवन में घुल-मिल जायँ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! देवयानी को कूप से निकालकर राजा ययाति अपनी राजधानी को चले गये, किन्तु वे देवयानी के मनोहर रूप को, उसके सुखद स्पर्श को न भूल सके। मृगया के व्याज से कभी-कभी अवसर पाकर महाराज ययाति उस सरोवर के समीप आते किन्तु उन्हें वह सुन्दरी दिखाई नहीं देती। शुक्राचार्य से प्रस्ताव करने का उनका साहस न होता। ये ब्राह्मण विप और अग्नि से भी भयंकर होते हैं। विप को जो खाता है, वही मरता है; अग्नि जल से शान्त भी हो जाती है; किन्तु कुपित हुआ ब्राह्मण सम्पूर्ण राष्ट्र को नष्ट कर देता है। राजा जानते थे कि इन्हीं शुक्राचार्य की कन्या के साथ राजा दण्डक ने बलात्कार किया था। इसके परिणाम स्वरूप उनका सहस्रों कोस लम्बा राज्य नष्ट होकर दण्डकारण्य वन गया। तप्त बालू के बरसने से दण्डक के राज्य के सभी जीव-जन्तु, वृक्ष तृण, आदि जलकर भस्म हो गये। इसीलिये शाप के भय से ययाति शुक्राचार्य के सम्मुख जाते भी नहीं थे।

इधर देवयानी ने भी दृढ़ निश्चय कर लिया था कि मैं विवाह करूँगी, तो राजर्षि ययाति के साथ। वह बार-बार इस बात को अपने बाप से कहना चाहती थी, पर उसका भी साहस नहीं होता था। देवयानी अब विवाह-बन्धन में बँधने के लिये अत्यन्त ही उत्सुक हो रही थी।

एक दिन उसका मन बड़ा अनमना-सा हो उठा। राजर्षि ययाति की उसे रह-रहकर याद आने लगी। उसने अपनी दासियों को आज्ञा दी—"आज हम उपवन में भ्रमण के निमित्त चलेंगी।" फिर क्या था? तैयारियाँ होने लगीं। पालकी में

चढ़कर देवकुमारी के सदृश देवयानी चली। उसकी सेवा में सहस्र सखियों के सहित दैत्यपुत्री शर्मिष्ठा भी चली। वन में पहुँचकर खा-पीकर देवयानी एक सुन्दर-स्वच्छ शय्या पर सुख-पूर्वक शयन करने लगी। उसके समीप सहस्रों सखियाँ बैठ गईं। कोई पान खिलाने लगी, कोई पीकदान उठाने लगी, कोई पंखा झलने लगी। शर्मिष्ठा शनैः शनैः उसके तलुओं को सहलाने लगी। उसी समय संयोग-वश राजर्षि ययाति भी वहाँ आ पहुँचे। ययाति को देखकर देवयानी का रोम-रोम खिल उठा। वह सभ्रम के सहित अपनी शय्या से सखियों-सहित उठकर खड़ी हो गई। राजा ने शिष्टाचार प्रदर्शित करते हुए कहा—"क्षमा कीजिये, मैंने आपके बीच प्रवेश करके बड़ा अनुचित कार्य किया, आपके आमोद-प्रमोद और आनन्द-आराम में विघ्न डाला।"

देवयानी ने कहा—"नहीं, पुरुषसिंह! आपके आने से हम सबको परम सुख हुआ। आइये, यह आसन ग्रहण कीजिये, कुछ काल विश्राम कीजिये।"

राजा ने अनजान की भाँति कहा—"आपके मधुर वचनों से ही मेरा सब सत्कार हो गया। आप कौन हैं और इस वन में किस कारण विचरण कर रही हैं?"

देवयानी ने कहा—"राजन्! मुझे आप भूल गये क्या? मैं असुर-गुरु भगवान् शुक्राचार्य की प्यारी पुत्री हूँ।"

अत्यन्त सुन्दरी राजकुमारी शर्मिष्ठा को देखकर शंकित चित्त से राजा ने पूछा—"यह देव-कन्या के समान सुन्दरी कौन है?"

हँसते हुए देवयानी ने कहा—"राजन्! इससे आप किसी प्रकार का संकोच न करें। यह वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा है। अपने पूज्य पिता के प्रभाव से यह जीवन-पर्यन्त मेरी दासी हो गई

है। जहाँ मैं विवाह करके जाऊँगी, वहाँ यह भी मेरे साथ ही मेरी सेवा में जायगी।"

यह सुनकर राजा को संतोष हुआ। उन्होंने आश्चर्य के साथ पूछा—"यह राजकुमारी दासी क्यों हुई ?"

देवयानी ने कहा—"राजन्! आपने मुझे उस दिन कूप से निकाला था, मेरा पाणिग्रहण किया था। इसी ने मुझे उस अंधकूप में ढकेल दिया था। उसी के दण्ड-स्वरूप यह मेरी दासी हुई है। अब आप अपने उस वचन को सत्य कीजिये, मेरा विधिपूर्वक पाणि-ग्रहण कीजिये।"

राजा ने कहा—"सुन्दरि! मुझे पाणिग्रहण करने में तो कोई आपत्ति नहीं किन्तु मैं तुम्हारे तेजस्वी-तपस्वी सर्वसमर्थ पिता से अत्यंत डरता हूँ। वे अपने योग-प्रभाव से मृतकों को जीवित कर देते हैं, राजाओं को धूल में मिला देते हैं। उनसे मैं इस अनुचित सम्बन्ध के लिये प्रस्ताव कैसे कर सकता हूँ ? कहावत है—

राजा योगी अग्नि जल, इनकी उल्टी रीति।
बचते रहियो परशुराम जी, थोड़ी राखो प्रीति॥

यह सुनकर देवयानी हँस पड़ी और बोली—"राजन्! आप मेरे पिता को जैसा हौआ समझते हैं, वैसे वे नहीं हैं। पृथ्वी पर आप सर्वश्रेष्ठ राजर्षि हैं। वे इस सम्बन्ध को स्वीकार कर लेंगे। अच्छा, आप याचना न करें। वे स्वयं आपको मुझे दे दें, तब तो आप मानियेगा ?"

राजा ने कहा—"हाँ उनकी आज्ञा का उल्लंघन कर ही कौन सकता है ?" यह सुनकर देवयानी ने अपनी दासी के द्वारा शुक्राचार्य को बुलाया। बेटी का सन्देश पाकर आचार्य-प्रवर शुक्र वहाँ आये। इन्हें देखकर राजा ने इनकी चरण-वन्दना की

और हाथ जोड़कर सिर झुकाये विनीत भाव से इनके सम्मुख खड़े हो गये। तब देवयानी ने कहा—"पिताजी! ये नहुष-नन्दन परम धर्मात्मा राजर्षि ययाति हैं।"

शुक्राचार्य ने कहा—"बेटी! मैं इन्हें बाल्यकाल से जानता हूँ। पृथ्वी में इनके समान धर्मात्मा, भगवद्भक्त, दूसरा कोई भी राजा नहीं। जैसे स्वर्ग में इन्द्र हैं, वैसे ही पृथ्वी पर ये हैं।"

देवयानी ने अत्यन्त ही दुलार के साथ कहा—"पिताजी! उस दिन इन्हीं राजर्षि ने मेरा हाथ पकड़ कर मुझे कुएँ से निकाला और इन्होंने मुझे जीवन-दान दिया था। अब आप उचित समझें तो इन्हें ही मेरा जीवन-संगी बना दें।"

यह सुनकर शुक्राचार्य गम्भीर हो गये। राजा मारे डर के थर-थर काँप रहे थे। कुछ देर ध्यान करने के अनन्तर भगवान् शुक्राचार्य बोले—"बेटी! भाग्य को कौन मेट सकता है। बृहस्पति-पुत्र कच का शाप अन्यथा कैसे हो सकता है? कोई ऋषिकुमार तो तुझे वरण करेगा नहीं। किसी राजर्षि के साथ ही तेरा विवाह करना है। पृथ्वी पर ययाति से बढ़कर धर्मात्मा दूसरा कोई राजर्षि है नहीं। अतः मैं तेरे इस प्रस्ताव का अनुमोदन करता हूँ।" यह सुनकर देवयानी परम प्रमुदित हुई। राजा का भी भय जाता रहा। उन्होंने आचार्य की चरण-धूल लेकर सिर पर चढ़ाई। पुत्री-सहित राजा को लेकर शुक्राचार्य नगर में आये।

महाराज वृषपर्वा ने जब सुना कि शुक्राचार्य अपनी सुता का विवाह राजर्षि ययाति से करेंगे, तब तो उन्हें परम हर्ष हुआ। नगर-भर में विवाह के बाजे बजने लगे। चारों ओर धूम-धाम मच गई। मधुर-मधुर वीणा की ध्वनि से सबके चित्त हर्षित हो उठे। वृषपर्वा ने गुरु-पुत्री के विवाह के उपलक्ष्य में भाँति-भाँति के वस्त्र,

आभूषण, हाथी, घोड़े, रथ, दास-दासियाँ तथा गृहस्थोपयोगी अनेकों वस्तुएँ दान में दीं।

शुक्राचार्य ने शर्मिष्ठा के सहित देवयानी को राजा के हाथों में देते हुए कहा—"राजन्! यह मेरी पुत्री है और यह शर्मिष्ठा वृषपर्वा की पुत्री है। दोनों का तुम दान-मान से भली-भाँति सत्कार करना। दासी समझकर राजपुत्री शर्मिष्ठा का भी कभी अपमान न करना। किन्तु एक बात सदा स्मरण रखना, इसे कभी अपनी पर्यङ्कशयिनी न बनाना।"

राजा ने आचार्य की आज्ञा शिरोधार्य की। गुरु ने पुत्री और जामाता को अशीर्वाद दिये। जाते समय देवयानी के नेत्रों से आँसू टपक रहे थे। वह अपने पिता से लिपट कर फूट-फूट कर रो रही थी। शुक्राचार्य की भी समस्त मोह-ममता बटुर कर देवयानी में ही घनीभूत हो गई थी।

आज वह पतिगृह जा रही है, इससे उनका भी हृदय भर रहा था। वे बार-बार कौशल से आँसू पोंछते और भर्राई हुई वाणी में कहते—"बेटी! रोते नहीं हैं। पिता कन्या को दूसरे के लिये ही पालता है। किसी न किसी दिन तो उसे कन्या को दूसरे के हाथ सौंपना ही पड़ता है। मुझे इसी का सन्तोष है, तू बड़े घर में जा रही है। ऐसे राजर्षि ने तेरा पाणि ग्रहण किया है, जिससे शक्र भी स्पर्द्धा रखते हैं। भगवान् तेरा कल्याण करें। तेरा मार्ग सुख प्रद हो। तू जा।" यह कहकर उन्होंने पुत्री को विदा किया शर्मिष्ठा भी दो सहस्र दासियों के सहित देवयानी की सेवा करने उसके पीछे-पीछे चली। सभी सकुशल पुर में पहुँच गये।

राज पुत्री शर्मिष्ठा देवयानी से अधिक सुन्दरी थी। स्त्रियों को इस बात की बड़ी चिन्ता रहती है, कि मेरा पति किसी अन्य

से प्रेम न करने लगे। इसके लिये वे यन्त्र-मन्त्र जादू टोना और न जाने क्या-क्या करती रहती हैं देवयानी को भी शंका हो गई कि निरन्तर पास रहने से ऐसा न हो कि राजा का मन शर्मिष्ठा में फँस जाय। इधर राजा को भी डर था कि मेरा चित्त चञ्चल न हो जाय, जिससे मुझे शुक्राचार्य के सम्मुख झूठा बनना पड़े। अतः उन्होंने महल से दूर अशोका वाटिका के भव्य भवनों में शर्मिष्ठा के रहने का पृथक् प्रबन्ध कर दिया। देवयानी ने भी इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। अब राजा धर्म पूर्वक रह कर आनन्द-विहार करने लगे। देवयानी ऐसे धर्मात्मा राजर्षि पति को पाकर परम सन्तुष्ट हुई।

छप्पय

*नृप शङ्का कछु करी देवयानी समुझाये।*
*नृप कूँ निर्भय करन तुरत पितु शुक्र बुलाये॥*
*अनुमोदन पितु करचो साज सखियनि ने साजे।*
*कड़क-कड़क-धुँ लगे ब्याह के बाजन बाजे॥*
*शर्मिष्ठा सँग सुता दै, बोले—पितु पावें न दुःख।*
*दोऊ आदर पाइँ, परि, शर्मिष्ठा नहिँ सेज सुख॥*

# धर्म-संकट में महाराज ययाति

[ ७५६ ]

विलोक्यौशनसीं रजञ्छर्मिष्ठा सप्रजां क्वचित् ।
तमेव वव्रे रहसि सख्याः पतिमृतौ सती ॥*
(श्री भा ९ स्क० १८ अ ३१ श्लोक)

छप्पय

लै शर्मिष्ठा सङ्ग देवयानी कूँ भूपति ।
आये पुर महँ हरषि मनायो प्रजा मोद अति ॥
शुक्र-सुता कूँ सदा शैल सर सरित घुमावैं ।
सरस हास परिहास करें अति सुख सरसावैं ॥
पुत्रवती उशना सुता, कछुक काल महँ ह्वै गई ।
शर्मिष्ठा ह्वै ऋतुमती, नृप-सङ्गम इच्छुक भई ॥

धर्म प्राणियों की स्वाभाविक इच्छाओं को नियन्त्रण में रखता है। यदि इच्छाओं को उन्मुक्त कर दिया जाय, पुरुषों पर धर्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक नियन्त्रण न रहें, तो पुरुष

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! किसी समय जब शर्मिष्ठा ने देवयानी को पुत्रवती देखा, तब उसने भी ऋतु-स्नान के अनन्तर अपनी सखी के पति महाराज ययाति से एकान्त में वीर्यदान की प्रार्थना की।"

पशुओं से भी गये बीते हो जायँ। पशुओं मे भी एक स्वभाविक नियन्त्रण होता है। अऋतुमती गाय भैंस के निकट उनका नर न जायगा। एक पुरुष ही ऐसा जन्तु है, जो समस्त बन्धनों को तोड़कर उन्मुक्त होना चाहता है। इसी से इसके लिये, धर्म की अत्यन्त आवश्यकता है। अनेक बन्धनों से छूटने के लिये, अनेक भयों से पार होने के लिये नियम के बन्धनों बँधता है। सुखी होने के लिये यह भाँति-भाँति की प्रतिज्ञा करता है। किन्तु अन्त मे नियमों को तोड़ने मे ही उसे परम सुख प्रतीत होता है। प्रतिज्ञायें पालन करने के लिये की जाती हैं, किन्तु मनुष्य विवश होकर वासना के वशीभूत होकर, धर्म-सङ्कट उपस्थित होने पर उन्हें तोड़ता है और परिणाम मे दुःख पाता है। इसे दिष्ट, प्रारब्ध, दैवेच्छा, भाग्य होनहार तथा कर्मगति—कुछ भी कह लें। जब मनुष्य के सामने दो ऐसे विरोधी धर्म आ जाते हैं, जो दोनों ही आवश्यक होते हैं, तब मनुष्य उसी ओर लुढ़क जाता है, जिस ओर उनके मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इसे मानसिक दुर्बलता कहें या विधि का विधान ? इसका निर्णय कौन करे ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अपनी राजधानी मे आकर महाराज ययाति धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन करने लगे। उनके राज्य मे समय पर वर्षा होती थी, सभी ओषधियाँ समय पर फलती-फूलती थीं। उनके राज्य मे चोरों का नाम नहीं था, व्यभिचार, अन्याय, अत्याचार कोई जानता नहीं था। सभी संयमी, सदाचारी सुशील और शान्त थे। सभी निरन्तर भगवद्-भक्ति मे निरत रहते। राजा ने नियम कर दिया था कि सभी अपने-अपने घरों मे नियत समय पर कीर्तन करें, भगवान् के गुणानुवाद श्रद्धा-सहित श्रवण करें, संयम और सदाचार के साथ

रहें, सभी गुरुजनों का आदर करें, और अपनी-अपनी धर्म-पत्नियों से ही सन्तुष्ट रहें। इन नियमों के कारण सभी संतुष्ट रहते। भगवद्भक्ति के प्रभाव से न कोई वृद्ध होते और न मृत्यु के ही दर्शन उन्हें होते। राजा ने सबके द्वार पर कल्पवृक्ष लगा दिये थे, सबके घरों में कामधेनु बाँध दी थी, अर्थात् कोई भी ऐसा नहीं था, जिसको इच्छित वस्तु सरलता से प्राप्त न हो जाती हो। राजा की ऐसी धर्मनिष्ठा के कारण इन्द्र भी उनसे ईर्ष्या करने लगे। महाराज ने साक्षात् वैकुण्ठ को लाकर पृथ्वी पर स्थापित कर दिया।

उनकी पत्नी देवयानी सदा उनके अनुकूल रहती। उसके साथ रहकर वे धर्मपूर्वक सभी प्रकार के गार्हस्थ्य सुखों का उपभोग करते। उसे वनों-उपवनों में, सरोवर और नदियों के तटों पर ले जाते, पर्वतों पर भ्रमण कराते और सब प्रकार उसकी सभी इच्छाओं को पूर्ण करते। समय आने पर देवयानी गर्भवती हुई। उसने एक पुत्र रत्न उत्पन्न किया। राजा ने उसका नाम रखा—"यदु"। ये ही महाराज आगे चल कर यदु-वंश के संस्थापक हुए जिनके वंश में आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र ने उत्पन्न होकर अपने को यादवेन्द्र के नाम से प्रसिद्ध किया।

देवयानी जब पुत्रवती हो गई, वह अपने फूल से सुकुमार राजकुमार को गोद में लेकर आत्म-विस्मृत हो जाती और बार-बार उसके अरुण वरण के मुख को चूमती, तब शर्मिष्ठा के मन में भी एक इच्छा उत्पन्न होती, 'हाय मैं भी कभी पुत्र का मुख देख सकूँगी क्या ? मेरी भी कभी इस प्रकार गोद भरेगी क्या। मैं भी कभी सुत के सुखद शरीर का स्पर्श कर सकूँगी क्या ?' किन्तु जब अपनी दास-वृत्ति का स्मरण करती तब मन मसोसकर रह जाती, अपनी साध को पूरी होते न देखकर व्याकुल हो जाती।

इधर शर्मिष्ठा की तो यह दशा थी, उधर राजा जब कभी शर्मिष्ठा को देखते, तब उनके मन में दया आती। वह उस मालती पुष्प के समान थी, जो एकान्त वन में खिली हो और किसी ने आदर पूर्वक उसे अपने कण्ठ का हार न बनाया हो। राजा विवश थे, प्रतिज्ञावद्ध थे। उन्हें देवयानी का भी डर था और उससे भी अधिक देवयानी के बूढ़े तपस्वी बाप का।

एक दिन शर्मिष्ठा ने ऋतुस्नान किया। आज उसे रह-रहकर राजा की याद आ रही थी। उसने सोचा—"देवयानी को राजा ने स्वयं ही तो वरण किया है, मैं भी तो उन्हें वर सकती हूँ। जब वे मेरी सखी के पति हैं, धर्मानुसार मेरे भी वे स्वामी हैं। वे दयालु हैं, दानी हैं। यदि मैं उनसे वीर्यदान की याचना करूँ, तो वे मुझे विमुख न करेंगे। आज यदि मुझे महाराज के दर्शन हो जाते, तो मैं उनसे विनती करती।" दैवयोग से उसी समय उसे अशोक-वाटिका में एकाकी घूमते हुए महाराज दिखाई दिये।

शर्मिष्ठा का भी साहस बढ़ा। वह लजाती हुई अपने अञ्चल को नीचा करके शनैः शनैः राजा के समीप गई। उसने भूमि पर घुटने टेककर राजा को प्रणाम किया और हाथ जोड़े, सिर नीचा करके चुपचाप, राजा के समीप खड़ी हो गयी। उसके सादे वेष, नत मस्तक और भोले-भाले मुख को देखकर ऐसा प्रतीत होता था, मानों मूर्तिमती सजीव करुणा खड़ी हो।

राजा ने अत्यन्त स्नेह से पूछा—"राजपुत्रि! तुम्हें मुझसे कुछ कहना है?"

शर्मिष्ठा ने सिर नीचा किये ही किये कहा—"प्रभो! मुझे कुछ याचना करनी है। दासी ही तो ठहरी।"

राजा ने देखा, उसके प्रत्येक शब्द में करुणा भरी है। अत्यन्त ही स्नेहपूर्वक वे बोले—"तुम दासी जिसकी होगी, उसकी होगी।

मेरे लिये तो तुम उसी प्रकार आदरणीया हो, जिस प्रकार देवयानी। मेरे यहाँ तुम्हें किस वस्तु का अभाव है, जिसके लिये तुम्हें मुझसे कहना पड़ा ? इसका मुझे दुःख है।"

शीघ्रता के साथ शर्मिष्ठा ने कहा—"नहीं प्रभो ! आपके शासन में मुझे क्या, किसी को भी, किसी वस्तु का अभाव नहीं है। आपने तो सभी के द्वार-द्वार पर कल्पवृक्ष लगवा दिये हैं। फिर मैं तो आपकी छत्रछाया में, आपके अन्तःपुर में ही, रह रही हूँ। मुझे किसी वस्तु का अभाव कैसे हो सकता है ? मैं तो आज आपसे वीर्य-दान की आकांक्षा करके आई हूँ।"

राजा ने कहा—"सुन्दरि ! तुम मुझसे ऐसा धर्म-विरुद्ध प्रस्ताव क्यों कर रही हो ? मैं धर्म के विरुद्ध आचरण कैसे कर सकता हूँ ?"

शर्मिष्ठा ने कहा—"प्रभो ! मुझे तो इसमें धर्म-विरुद्ध कोई बात दिखाई पड़ती नहीं। आप भी मेरे कुल, शील, सदाचार से तो अवगत हैं ही। मैंने ऋतु स्नान किया है। मैं बड़ी आशा लेकर आपके सम्मुख उपस्थित हुई हूँ। मुझे आपके पास से निराश न लौटना पड़े, यही मेरी प्रार्थना है।"

राजा ने कहा—"शर्मिष्ठे ! तुम युवती हो, राजपुत्री हो, परम सुन्दरी, कुलवती और शीलवती हो। फिर भी मैं शुक्राचार्य के निकट प्रतिज्ञा-बद्ध हूँ, नहीं तो तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार करने में मुझे कोई आपत्ति ही नहीं थी। मैं धर्मशाप में बँधा हुआ हूँ।"

शर्मिष्ठा ने कहा—"स्वामिन् ! धर्म की गति बड़ी ही सूक्ष्म है। ऋषियों ने कहीं तो ऊपर से धर्म-जैसी दीखने वाली क्रिया को अधर्म कहा है और कहीं अधर्म-जैसी दीखने वाली क्रिया को परम धर्म माना है। सत्यासत्य में मुख्य हेतु वाणी न होकर भाव ही है। बच्चों को खिलाते समय बहुत-सी व्यर्थ की असत्य

बातें बनानी पड़ती हैं। वह असत्य विशेष निन्दनीय नहीं माना जाता। इसी प्रकार स्त्रियों के सम्बन्ध में, हँसी-विनोद में, विवाह के प्रसङ्ग में, आजीविका की रक्षा के समय, प्राणों पर अत्यन्त संकट उपस्थित होने पर, गो-ब्राह्मणों की रक्षा में, किसी के सतीत्व की रक्षा में, सर्वस्व अपहरण के समय तथा योग्य स्त्री के सम्बन्ध में, यदि थोड़ा-बहुत झूठ बोलना भी पड़े, तो दोष नहीं लगता। उस समय आपने प्रतिज्ञा की, उचित ही किया। किन्तु अब मेरे धर्म की रक्षा भी तो आप को ही करनी है। देवयानी के आप पति हैं, तो धर्मतः मेरे भी पति हैं। मैंने मन से आपको पति-रूप से वरण किया है। आर्य-धर्म के रहस्य को बताने वाले ऋषियों ने कहा है—"दास-दासी, पुत्र, और स्त्री की निज की कोई सम्पत्ति नहीं होती। जो भी कुछ सम्पत्ति होती है, गृह-स्वामी की ही होती है। मैं यद्यपि देवयानी की दासी हूँ, किन्तु धर्मतः विवाह होने पर आपका ही मुझ पर अधिकार है। देवयानी का अपना तो कुछ है ही नहीं। उसने तो अपना तन-मन, धन तथा सर्वस्व आप को समर्पित कर दिया है। अतः मेरी इच्छा पूर्ण करना भी आप का ही परम धर्म है।"

राजा ने कहा—"प्रिये! तुम्हारा कथन सत्य है, धर्मानुकूल है। किन्तु बड़े लोग जैसा आचरण करते हैं, छोटे लोग उसी का अनुकरण करते हैं। प्रजा के लिये राजा ही प्रमाण है। जब काम-वश होकर मैं अधर्म करने लगूँगा, तब सभी लोग अनाचारी हो जायँगे।"

शर्मिष्ठा ने कहा—"मैं अधर्म करने को तो नहीं कह रही हूँ। आप मेरे धर्मतः, न्यायतः स्वामी हैं, भर्ता हैं, पति हैं। ऋतुमती स्त्री यदि संतान की इच्छा से पति के समीप जाय और पति उसका तिरस्कार कर दे, तो उसे भ्रूण-हत्या का पाप लगता है।"

राजा ने शर्मिष्ठा की युक्तियुक्त बातों पर कुछ देर तक विचार किया और बोले—"राजपुत्रि ! प्रार्थी के मनोरथ को पूर्ण करना मेरा व्रत है। यदि इस समय तुम्हें वीर्यदान देना अधर्म नहीं है, तो मैं समुपस्थित हूँ। बताओ, मैं क्या करूँ ?"

शर्मिष्ठा बोली—"प्रभो ! इस समय मैं संतानेच्छुका हूँ। दोष-रहिता हूँ, आप अपने व्रत की रक्षा करते हुए मेरे धर्म की भी रक्षा करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! शर्मिष्ठा की बात राजा को जँच गई। उन्होंने सोचा—"अच्छा, जैसी भगवान् की इच्छा। प्रारब्ध को कौन मिटा सकता है ? अब जो हो।"—यह सोचकर उन्होंने शास्त्रीय विधि से शर्मिष्ठा में गर्भाधान-संस्कार किया। दैत्य-पुत्री परम प्रमुदित हुई। शनैः शनैः गर्भ बढ़ने लगा। नियत समय पर शर्मिष्ठा ने एक पुत्र-रत्न प्रसव किया, जिसका नाम द्रुह्यु रखा गया।

छप्पय

बोली—हे नरदेव ! धर्म के तुम मेरे पति।
दासिनि की सब भाँति बताये स्वामी ही गति॥
वीर्यदान अब देहु पसारूँ पल्लो प्रियतम।
दासी पै मति बनो दयासागर अस निर्मम॥
रूपवती अरु ऋतुमती, शर्मिष्ठा की सुनि विनय।
शुक्र-प्रतिज्ञा भंग करि, दयो दान है कैं सदय॥

# देवयानी की शंका

[ ७६० ]

राजपुत्र्यार्थितोऽपत्ये धर्मं चावेक्ष्य धर्मवित् ।
स्मरञ्छुक्रवचः काले दिष्टमेवाभ्यपद्यत ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १८ म० ३२ श्लो०)

छप्पय

*शर्मिष्ठा सुत जन्यो देवयानी सुनि आई ।*
*भई क्रोध तैं लाल असुर-तनया धमकाई ॥*
*इत-उत बात बनाय देवयानी टरकाई ॥*
*गुरु पुत्रिहिँ बहकाइ दैत्य-पुत्री हरषाई ॥*
*शर्मिष्ठा महँ फँस्यो मन, बस्यो दम्भ नृप के हिये ।*
*भये कामवश शील तजि, रति सुख-हित कारज किये ॥*

मनुष्य काम के अधीन न हो, तो उसे जरा-मृत्यु का भी भय न हो। मन में विकार होने से ही शरीर में विकार होता है। मनुष्य काम के वश होकर ही शील सदाचार खो बैठता है। हृदय

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब राजकुमारी शर्मिष्ठा ने पुत्र प्राप्ति के लिये प्रार्थना की, धर्म को जानने वाले महाराज ययाति ने इसे धर्म समझकर, शुक्राचार्य की आज्ञा का स्मरण रखते हुए भी, दैवाधीन होकर, उसे वीर्यदान दिया। उन्होंने भाग्य का अनुसरण किया।"

की प्रबल कामना दुस्साहस उत्पन्न करती है। दुस्साहस से जो अनर्थ होता है, उसे छिपाने को छल, झूठ, कपट तथा मिथ्या व्यवहार का आश्रय लेना पड़ता है। इसी से देह में जरा-मृत्यु आती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अनुचित कार्य जब कोई करने लगता है, तो उसका भय भी मिटता जाता है। एक बार जो प्रतिज्ञा भंग कर देता है, उसके आगे प्रतिज्ञा निभाने की आशा करना वृथा है। जब हम कोई प्रतिज्ञा कर लेते हैं, तब प्रतिज्ञा विरोधी कार्य करने की बार-बार इच्छा होती है, मन अनेक प्रकार की युक्तियाँ सुझाता है। जब बुद्धि सबका निराकरण कर देती है, तब अन्त में मन कहता है, "अच्छा, एक बार इसे कर लें, फिर न करेंगे।" जहाँ एक बार किया, कि फिर मन कहता है, "जैसा ही एक बार, वैसा ही हजार बार। अब तो प्रतिज्ञा टूट ही गई!" इस प्रकार प्राणी प्रतिज्ञा से भ्रष्ट होकर मिथ्याचारी बन जाता है। राजा ययाति ने तो समझा, मैं धर्म कर रहा हूँ; किन्तु उन्हें पता नहीं था कि यह सब देवताओं का षड्यन्त्र था। तेजस्वी, सदाचार में निरत लोगों की परीक्षा के लिये देवगण भाँति-भाँति के प्रलोभन उपस्थित करते हैं। राजा ययाति धर्मात्मा थे, भगवद्-भक्त थे। उन्होंने पृथ्वी पर ही वैकुण्ठ बना दिया था। उनके राज्य के ग्राम-ग्राम में विष्णु भगवान् के मन्दिर थे, जहाँ निरन्तर भगवन्नामों का कीर्तन होता था, सभी मुख्य-मुख्य पर्व मनाये जाते थे, बड़े-बड़े उत्सव होते थे, सर्वत्र तुलसी-कानन और पद्मवन लगे हुए थे। ऐसे राजा के समीप जरा कैसे आ सकती? मृत्यु का तो उनके सम्मुख खड़े होने का भी साहस नहीं था। सहस्रों वर्षों तक ये युवा बने ही धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन करते रहे। देवताओं को चिन्ता हुई की राजा इसी प्रकार परम धर्म करते

रहेंगे तो न वे स्वय मरेंगे, न अपनी प्रजा को ही मरने देंगे। मृत्यु को भय हुआ, कि मेरा पद ही छिन जायगा। इसीलिये धर्मराज इन्द्र के समीप गये। इन्द्र ने धर्मराज–यम–का सत्कार किया और अपने पास आने का कारण उनसे पूछा। यम बोले—"देवेन्द्र! आप जैसे हो वैसे महाराज ययाति को स्वर्ग बुलावें। यदि वे पृथ्वी पर रहेंगे, तो सबको मृत्युहीन बना देंगे।"

धर्मराज की बात सुनकर देवेन्द्र ने अपने सारथि मातलि को महाराज ययाति के समीप भेजा और उनसे स्वर्ग पधारने की प्रार्थना कराई। इन्द्र सारथि मातलि ने जाकर महाराज ययाति का जय जयकार किया और उनसे कहा—"आयुष्मन्! आपको पृथ्वी पर रहते हुए बहुत दिन व्यतीत हो गये, अब आप स्वर्ग पधारें। देवराज इन्द्र ने आपको बुलाया है। स्वर्ग से आप जब चाहें ब्रह्मलोक, रुद्रलोक, आदि दिव्य लोकों का सुख भोगते हुए, वैकुण्ठ लोक चले जायँ। आपके पुण्य अनन्त हैं, उनके प्रभाव से आप अक्षय लोकों का उपभोग कर सकते हैं।" यह सुनकर राजा ने मातलि से विविध कर्मों के फलों को पूछा, स्वर्गादिक लोकों के सुखों को समझा, और अन्त में कह दिया– "इन्द्र सारथे! हम स्वर्ग जाना नहीं चाहते। हम तो अपने पुण्य प्रभाव से यहाँ पृथ्वी पर ही वैकुण्ठ स्थापित करेंगे।" यह सुनकर मातलि राजा से अनुमति लेकर, उन्हें आशीर्वाद देकर, स्वर्ग चले गये और सब बातें आकर इन्द्र से कहीं। यह सुनकर इन्द्र आश्चर्य चकित रह गये। अब उन्होंने एक ऐसा षड्यन्त्र रचा कि राजा काम के वश हो जायँ। कामवश होने से मनुष्य को क्रोध आता है, क्रोध से सम्मोह होता है, कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान नहीं रहता, चिन्ता होती है, चिन्ता से जरा आती है, जरावस्था में कामवासना प्रबल हो उठती है। उससे आदमी की मृत्यु हो जाती है। वासना कर्तव्य

का, धर्म का, रूप रखकर आता है। इसीसे धर्मात्मा पुरुष भी उसके चक्कर में फँस जाते हैं। "अर्थी के सङ्कल्प को पूरा करना धर्म है" इस सिद्धान्त से राजा ने शर्मिष्ठा के साथ सङ्गम किया, किन्तु उसका परिणाम विपरीत ही हुआ। उनकी शर्मिष्ठा में देवयानी से भी अधिक आसक्ति हो गई। वे शुक्राचार्य के तेज को भी जानते थे। अतः उनका भी उन्हें भय था। प्राणी जब धर्म-पूर्वक अपनी वासनाओं की तृप्ति होते नहीं देखता, तब अधर्म का आश्रय लेता है। यह उसका पतन है।"

देवयानी ने जब सुना शर्मिष्ठा के भी एक पुत्र हुआ है, तब वह राजा के समीप गई। राजा की ओर से तो देवयानी को कोई शङ्का थी ही नहीं। शर्मिष्ठा के ही ऊपर उसे सन्देह हुआ। इसलिये वह उसे डाँटती हुई बोली—"दैत्य-पुत्रि! तू ने यह क्या अधर्म किया? हमारे अन्तःपुर में ही तू ने यह पुत्र कहाँ से, कैसे, उत्पन्न किया?"

यह सुनकर शर्मिष्ठा डर गई। बात बनाते हुए उसने कहा—"जीजी! मैंने कोई अधर्म नहीं किया है। एक दिन मैं ऋतु स्नान करके बैठी थी कि एक धर्मात्मा वेदज्ञ ऋषि मेरे समीप आये। मैंने उनका विधिवत् आतिथ्य-सत्कार किया। मेरे आतिथ्य से प्रसन्न होकर उन्होंने मुझसे कोई वर माँगने को कहा। मैंने हाथ जोड़कर उनसे कहा—"प्रभो! अपने धर्म को बचाते हुए, मुझे पुत्र प्रदान कीजिये।" उन धर्मात्मा ऋषि ने ही मुझे धर्म पूर्वक पुत्र प्रदान किया है। काम-वश मैंने कोई अनुचित कार्य नहीं किया।"

देवयानी ने कहा—"वे ऋषि कौन थे? किसके पुत्र थे? किस गोत्र के थे?"

शर्मिष्ठा ने कहा—"जीजी! मैं तो उस ऋषि के तेज और

प्रभाव से ऐसी प्रभावित हो गई कि उनका नाम, गोत्र, कुछ भी न पूछ सकी।"

यह सुनकर देवयानी ने शर्मिष्ठा की बात पर विश्वास किया और बोली—"यदि तेरा कथन सत्य है, तो मैं तुझसे प्रसन्न हूँ। वेदज्ञ श्रेष्ठ ऋषि के वरदान-द्वारा पुत्र उत्पन्न करना पुत्रार्थी के लिये कोई अधर्म नहीं।" इतना कहकर देवयानी अपने स्थान को चली गई। शर्मिष्ठा मन ही मन प्रसन्न हुई, कि इस गुरु पुत्री को मैंने कैसी झाँसा-पट्टी पढ़ा दी।

इधर जब राजा को पता चला, कि देवयानी शर्मिष्ठा की गति विधि पर कड़ा नियन्त्रण रखती है, तब तो राजा ने शर्मिष्ठा को इस प्रकार रखा कि देवयानी उसके सम्बन्ध मे कुछ जान ही न सके। राजा देवयानी से छिपकर शर्मिष्ठा के महलों मे जाते।

देवयानी के प्रथम पुत्र यदु हुए और फिर बहुत दिनों के पश्चात् एक पुत्र हुए, जिनका नाम तुर्वसु प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार देवयानी के दो पुत्र हुए।

इधर शर्मिष्ठा के द्रुह्यु, अनु और पूरु तीन पुत्र हो गये। किन्तु राजा ने उन्हे इस प्रकार छिपाकर रखा कि देवयानी को पता ही न चला, कि शर्मिष्ठा के और भी कोई पुत्र है। देवयानी समझ रही थी, राजा मेरे अधीन हैं, मुझसे प्रेम करते हैं। शर्मिष्ठा समझती थी—"राजा का सम्पूर्ण प्यार मुझे ही प्राप्त है, वे मेरे ही अधान हैं।" किन्तु राजा न देवयानी के अधीन थे, न शर्मिष्ठा के, वे तो काम के अधीन थे। देवताओं के षड्यन्त्र से जरा ने उनके शरीर मे प्रवेश किया था। वह भीतर ही भीतर चिन्ता बनकर अपना काम कर रही थी। अन्त मे उनका भण्डा-फोड़ हो गया और जरा ने खुलकर उन पर आक्रमण कर दिया। राजा का सिर हिलने लगा, बाल सफेद हो गये, मुख दातो से हीन

और होकर खोखला हो गया, कमर लच गयी, खाल सिकुड़ गई, और इन्द्रियों की शक्ति नष्ट प्रायः हो गई।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! वृद्धावस्था ने राजा के शरीर में कैसे प्रवेश किया ? कृपा करके इस प्रसङ्ग को हमें सुनाइये।"

सूतजी बोले—"महाराज ! यह मनोरञ्जक तथा रोचक प्रसङ्ग मैं आपको सुनाता हूँ। आप समाहित चित्त से उसे श्रवण करें।"

### छप्पय

यदु अरु तुर्वसु तनय देवयानी ने जाये।
शर्मिष्ठा हू तीन तनय भूपति तैं पाये॥
द्रुह्यु और अनु पूरु नाम तिनके अति मनहर।
प्रकट न बाहर होहिं रहैं महलनि के भीतर॥
शर्मिष्ठा के रूप महँ, रँग्यो रँगीलो नृप हृदय।
देव-सरिस सुन्दर भये, ता ई तैं तीनो तनय॥

# ययाति पर देवयानी और शुक्र का प्रकोप

[ ७६१ ]

यदुं च तुर्वसुं चैव देवयानी व्यजायत ।
द्रुह्युं चानुं च पूरुं च शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ॥
गर्भसम्भवमासुर्या भर्तुर्विज्ञाय मानिनी ।
देवयानी पितुर्गेहं ययौ क्रोधविमूर्च्छिता ॥*

(श्री भग० ६ स्क० १८ अ० ३३, ३४ श्लोक)

छप्पय

*एक दिवस नृप सङ्ग देवयानी उपवन महँ ।*
*घूमत-घूमत गई परम प्रमुदित है मन महँ ॥*
*देव-कुमार समान निहारे द्वै शिशु सुन्दर ।*
*रूप रंग उनहार-शील नृप सरिस मनोहर ॥*
*पूछे पतितैं प्रेमवश, जीवन-धन ये शिशु सुघर ।*
*है निर्भय क्रीड़ा करहिँ, कहहु कौन के हैं कुमर ॥*

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—राजन् ! देवयानी से यदु और तुर्वसु ये दो पुत्र उत्पन्न हुए और शर्मिष्ठा से द्रुह्यु, अनु और पूरु पुत्र उत्पन्न हुए । जब मानिनी देवयानी को विदित हुआ कि शर्मिष्ठा के मेरे पति के द्वारा गर्भ रहा था, तब तो वह क्रोध से विमूर्छित हुई अपने पिता शुक्राचार्य के घर चली गई ।"

पाप और पुण्य कितने भी छिपाये जायँ, छिपते नहीं। सूर्य चन्द्रमा, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, दिन, रात्रि, सन्ध्या, यमादिक देवता सबकी गति-विधि देखते रहते हैं। ये सबके सब कर्मों के साक्षी हैं। वायु-मण्डल में जहाँ पुण्य-पाप फैला, वहाँ वह प्रकट हो ही जाता है—कोई शीघ्र प्रकट होता है, कोई देर में।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! देवयानी तो प्रसन्न थी कि उसके दो पुत्र हो चुके हैं। उसे इस बात का पता नहीं था, कि शर्मिष्ठा ने तीन सुतों को जन्म दिया है और वह भी महाराज के ही वीर्य से। शर्मिष्ठा कभी देवयानी के समीप आती, तो उसकी सूचना पहले ही उसे दे दी जाती। बच्चों को छिपा दिया जाता। बच्चे तो बच्चे ही ठहरे। वे इन षड्यन्त्रों को क्या जाने वे तो शर्मिष्ठा को अपनी माता जानते थे और महाराज को पिता। महाराज एकान्त में बच्चों को बहुत प्यार करते थे।

एक दिन राजा के साथ देवयानी अशोक वन में टहल रही थी। वसन्त ऋतु थी। शर्मिष्ठा के दो पुत्र अनु और पूरु उस उपवन में हँसते हुए क्रीड़ा कर रहे थे। दोनों बच्चे अत्यन्त ही सुन्दर और सुकुमार थे। तपाये हुए सुवर्ण के समान उनका वर्ण था। वे लाल रङ्ग का अँगरखा पहने हुए थे और पीताम्बर बाँधे हुए। उनकी काली-काली घुँघराली लटें उनके गोल-मोल सुन्दर मुख पर बिथुर रही थीं। कानों में मणिमय कुण्डल झलमल-झलमल कर रहे थे। देवयानी ने इतने सुन्दर कुमार पहले इस उपवन में कभी देखे नहीं थे। प्रथम तो उसे भ्रम हुआ कि ये कोई देवकुमार हैं, क्रीड़ा करने के निमित्त यहाँ आ गये होंगे। फिर उसने ध्यानपूर्वक देखा, कि इनके पैर तो पृथ्वी पर पड़े हैं, इनके पलक भी गिरते हैं, और इनके शरीर की छाया भी पड़ती है। तब तो उसे निश्चय हो गया, कि ये मानव-कुमार ही

हैं। इनकी आकृति, प्रकृति मुख की उनहार, शारीरिक गठन, चलन-चितवन, सभी राजा के समान हैं। देवयानी तो उन्हें देखकर विस्मित हो गयी। राजा मारे डर के थर-थर काँपने लगे। उनका मुख फक पड़ गया। कई बार उन्होंने आँखों के संकेत से बच्चों को भाग जाने को कहा किन्तु बच्चे संकेत क्या समझें ? व अपने पिता को देखकर परम प्रफुल्लित होकर उनकी ओर दौड़े।

देवयानी ने शंका, विस्मय, आश्चर्य और कुतूहल के सहित राजा से पूछा—"प्राणनाथ ! ये किसके बालक हैं ? यहाँ इस हमारे अन्तःपुर के उपवन में ये निर्भय होकर कैसे खेल रहे हैं ?'

राजा चुप ही थे कि बच्चे हँसते हुए राजा के समीप आ गये। देवयानी ने प्यार से उन दोनों बच्चों को पकड़कर पूछा—"बच्चो ! तुम ठीक-ठीक बताओ, तुम किसके पुत्र हो। यहाँ किसके साथ तुम आये हो ?"

बच्चों ने निर्भय होकर सरल स्वभाव से कहा—"शर्मिष्ठा हमारी माता है, ये महाराज हमारे पिता हैं। यह हमारा घर है। हम अपने उपवन में क्रीडा करने आये हैं।" यह कहकर बालक राजा की गोद में दौड़े, किन्तु राजा ने उन्हें गोद में नहीं लिया। अब तो देवयानी सब रहस्य समझ गई। राजा तो सन्न रह गये। क्रोध और व्यङ्ग के स्वर में देवयानी ने लाल-लाल आँखें निकाल कर राजा से पूछा—"क्यों, महाराज ! ऐसा कपट-व्यवहार ! क्या यही आप का धर्म है ?"

राजा चुपचाप खड़े थे। देवयानी से अब न रहा गया। वह तुरन्त शर्मिष्ठा के महलों में घुस गई और अत्यन्त ही क्रोध में भरकर उससे बोली—"दैत्यपुत्री ! मैं समझती थी, दासी बनकर तेरी दुष्टता छूट जायगी, किन्तु तू अपने नीच स्वभाव को छोड़ नहीं सकती। तू ने मेरे साथ विश्वासघात किया है !"

शर्मिष्ठा को पति-प्रेम प्राप्त था, वह मानिनी थी। अब वह देवयानी की इतनी कड़ी बातों को क्यों सहती ? उसने निर्भय होकर कहा—"तू आपे से बाहर क्यों हो रही है ? मैंने तेरे साथ कौन-सी दुष्टता की ? मैंने तेरे साथ क्या विश्वासघात किया ?"

देवयानी ने कहा—"तू ने अपने इस कुकृत्य को छिपाकर क्यों रखा ? जब तू मेरी दासी है, तब तुझे सब बातें मुझसे कहनी चाहिये थी।"

शर्मिष्ठा ने कहा—"अब मैं क्या बार बार कहती ? उस दिन मैंने तुझसे कह तो दिया ही था।"

देवयानी ने कहा—"उस दिन तूने झूठ कहा था। तूने कहा, मैंने एक ऋषि के वरदान से पुत्र पाया है।"

शर्मिष्ठा बोली—"मैंने तो तनिक भी असत्य नहीं कहा। धर्मात्मा राजर्षि ययाति किस ऋषि से कम हैं ? इन्द्र भी इनका आदर करते हैं। इनका ही सत्कार करके इन्हीं के वरदान से मैंने पुत्र पाये हैं। यही बात मैंने तब कही थी, उसे ही अब कहती हूँ। एकान्त में कहला ले, चाहे हजार आदमियों के सम्मुख कहला ले।"

देवयानी ने कहा—"तू मेरी दासी थी, तुझे राजा से ऐसी प्रार्थना करने का क्या अधिकार था ?"

शर्मिष्ठा ने कहा—"जो अधिकार तुझे हैं, वही मुझे भी। जब तक तू अविवाहिता थी, तब तक मैं तेरी दासी अवश्य थी। किन्तु जब तू महाराज की धर्म-पत्नी बन गई, तब तेरी सब वस्तुओं के स्वामी महाराज हुए। उसी न्याय से वे मेरे भी स्वामी हैं। मैंने कोई अधर्म नहीं किया है। मेरे लिये ब्राह्मण-पुत्री होने से तू मान्य अवश्य है, किन्तु तुझसे भी अधिक मान्य ये राजर्षि

महाराज मेरे लिये हैं। इनके सम्मुख तू मेरे ऊपर शासन नहीं कर सकती।"

शर्मिष्ठा से मुँहतोड़ उत्तर पाकर देवयानी चोट खाई सर्पिणी की भाँति, राजा के ऊपर बिगड़ने लगी। वह राजा को डाँटते हुए बोली—"राजन्! तुम मेरे साथ इस प्रकार विश्वासघात करोगे, ऐसा परोक्ष में मेरा अपमान करोगे, इसका मुझे स्वप्न में भी ध्यान नहीं था। अब मैं तुम्हारे समीप नहीं रह सकती। मैं तो अपने पिता के समीप जाती हूँ।" यह कहकर वह वहाँ से शुक्राचार्य के समीप चल दी। राजा भी उसके पीछे-पीछे चले, जैसे गौ के पीछे-पीछे साँड़ चलता है। राजा ने हाथ जोड़े, मुख में तिनका रखकर देवयानी से क्षमा माँगी, उसके पैर पकड़कर बोले—"हे मानिनि! तुम मेरे ऊपर कृपा करो, मेरे अपराध को क्षमा कर दो। शुक्राचार्य के समीप मत जाओ। मैं उन महर्षि से बहुत डरता हूँ।" किन्तु देवयानी ने उनकी एक न सुनी। वह तुरन्त अपने पिता शुक्राचार्य के समीप पहुँच गई। इतने ही में उदार-मन महाराज ययाति भी वहाँ पहुँच गये। ययाति को देखकर देवयानी अपने पिता से बोली—"पिताजी! अधर्म ने धर्म को जीत लिया। देवताओं के भक्षण-योग्य हवि को कुतिया खा गई। इन धर्मात्मा राजा ने अधर्म करके मुझे ठग लिया।"

शुक्राचार्य गम्भीर होकर बोले—"क्या बात है? क्यों आज इतनी कुपित हो रही हो?"

देवयानी ने कहा "पिताजी! शर्मिष्ठा ने मेरी सौत का पद ग्रहण कर लिया है। ये राजा धर्ममार्ग से विचलित हो गये हैं। देखिये, शर्मिष्ठा के तीन पुत्र इनके द्वारा हो चुके हैं, मेरे दो ही। इन्हीं सब बातों को सुनाने के लिये मैं आपके समीप आई हूँ।"

यह सुनकर शुक्राचार्य ने लाल-लाल आँखें करके पूछा—

"क्यों राजन् ! क्या देवयानी ठीक कह रही है ? आपके द्वारा शर्मिष्ठा में तीन पुत्र उत्पन्न हुए हैं ?"

राजा ने सिर हिलाकर इस बात को स्वीकार किया। इसे सुनकर शुक्र ने क्रोध में भरकर कहा—"राजन् ! तुमने प्रतिज्ञा भंग की है, अतः तुम भी बूढ़े हो जाओ।"

गिड़गिड़ा कर राजा ने कहा—"प्रभो ! मैंने धर्म समझकर शर्मिष्ठा को वीर्य दान दिया। भार्गव ! मैंने कोई अनुचित कार्य नहीं किया।"

शुक्राचार्य बोले—"ऋतुमती भार्या को वीर्य-दान देना उचित भी हो, तो तुमने प्रतिज्ञा तो भंग की ही है। तुम्हें मुझसे आज्ञा लेकर कुछ करना था।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ! यह अपराध मुझसे अवश्य बन गया।"

शुक्राचार्य ने कहा—"अपराध बन गया, तो उसका फल भोगो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह कहकर शुक्राचार्य चुप हो गये, राजा उनके सम्मुख हाथ जोड़े खड़े ही रहे।"

छप्पय

भये भूप भयभीत न बोले कछु घबराये।
करि कर को संकेत कुमर द्विज सुता बुलाये॥
पूछे किनके पुत्र शिशुनि सच बात बताई।
शर्मिष्ठा ढिँग कुपित देवयानी सुनि आई॥
बात खरी-खोटी कहीं, शर्मिष्ठा डरपी न जब।
भरी क्रोध महँ नृपहिं तजि, पितु-ढिँग रोवत गई तब॥

—०—

# ययाति पर जरा का आक्रमण

[ ७७२ ]

शुक्रस्तमाह कुपितः स्त्रीकामानृतपूरुष ।
त्वां जरा विशतां मन्द विरूपकरणी नृणाम् ॥
अतृप्तोऽस्म्यद्य कामानां ब्रह्मन् दुहितरि स्म ते ।
व्यत्यस्यतां यथाकामं वयसा योऽभिधास्यति ॥*

( श्रीमा० ९ स्क० १८ अ० ३६ ३७ श्लोक )

छप्पय

*वृत्त सुन्यो सब शुक्र शाप भूपति कूँ दीन्हों ।*
*करी प्रतिज्ञा भङ्ग अनादर मेरो कीन्हों ॥*
*तातैं तुरतहिँ जरा देह तेरी महँ आवै ।*
*भोगि सकैं नहिँ भोग* अनृत को फल सब पावै ॥
*नृप बोले—तव सुता तैं, ब्रह्मन् ! तृप्ति भई नहीं ।*
*उभय ओर तैं विषय की, इच्छा अबहिँ गई नहीं ॥*

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! अपनी पुत्री की बात सुनकर शुक्राचार्य कुपित होकर ययाति से बोले—'हे स्त्री कामी ! हे असत्य-वादी ! हे मन्दमति ! तुझे मनुष्यों को विरूप करने वाली जरावस्था प्राप्त हो ।" यह सुनकर ययाति बोले—"ब्रह्मन् ! अभी तक मैं आपकी पुत्री के साथ विषय भोग करके तृप्त नहीं हुआ ।" तब शुक्र बोले—"अच्छी बात है, जो तुम्हें प्रसन्नता से स्वेच्छापूर्वक अपनी युवावस्था दे, उससे तुम अपनी वृद्धावस्था बदल सकते हो ।"

राम-नाम के जप-कीर्तन से आधि, व्याधि, दुःख, शोक, ग्लानि और सभी प्रकार के मनस्ताप दूर हो जाते हैं। सब सुखों का एकमात्र साधन भगवन्नाम है और सब अनर्थों का आश्रय एकमात्र काम है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पञ्चभूतों से निर्मित यह शरीर है। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—ये पाँच इसके विषय हैं। कान, आँख, रसना, घ्राण और त्वचा—इन पंचेन्द्रियों द्वारा प्राणी इन विषयों का उपभोग करता है। विषयों को भोगते-भोगते वीर्य और रक्त का नाश होता है। वीर्य, रक्त तथा मल में ही प्राण रहते हैं। जब शरीर में वीर्य और रक्त का अभाव हो जाता है, तब यह शरीर खोखला बन जाता है। विषयों में आसक्त हुआ मन इधर-उधर भटकता रहता है। इन्द्रियों की शक्ति क्षीण होने से विषय भोगे तो जाते नहीं, किन्तु उनमें तृष्णा बनी रहती है। काम-वासना को सब अनर्थों की जड़ कहा गया है। शरीर में जीर्णता आने से ही जरावस्था का आक्रमण होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज ययाति को शुक्राचार्य ने जब शाप दे दिया, तब वे हाथ जोड़कर आचार्य से बोले—"ब्रह्मन्! आपने शाप देकर मेरा ही अनिष्ट नहीं किया, अपनी पुत्री का भी अपकार किया, जैसे कोई क्रुद्ध होकर अपने जामाता को मृत्यु का भी शाप दे दे, तो अपनी पुत्री को स्वयं विधवा बनाता है। विषय-भोगों से अभी तक मेरी तृप्ति नहीं हुई है, न आपकी पुत्री देवयानी की। अतः ऐसा उपाय करें, जिससे वृद्धावस्था मुझ पर आक्रमण न करे।"

शुक्राचार्य ने कहा—"हाँ भाई! भूल तो हो गई। किन्तु अब क्या किया जाय? मेरा शाप मिथ्या तो हो नहीं सकता!"

राजा बोले—"महाराज! आप सर्वसमर्थ हैं। कोई ऐसा

उपाय निकालिये, कि आपका वचन भी मिथ्या न हो और मैं युवा होकर देवयानी के साथ विषयों का उपभोग भी कर सकूँ।"

शुक्राचार्य कुछ सोचकर बोले—"राजन ! यदि आपका कोई पुत्र तथा सम्बन्धी स्वेच्छा से आपकी वृद्धावस्था ले सके, तो आप उसकी युवावस्था से सुखोपभोग इच्छानुसार कर सकते हैं।"

शीघ्रता से राजा ने कहा—"ब्रह्मन् यह वर मुझे और दीजिये कि मेरे पुत्रों में से जो भी मेरी वृद्धावस्था ले, वही मेरे पीछे सिंहासन का अधिकारी हो, उसे परम पुण्य हो और वही संसार में कीर्तिशाली बने।"

शुक्राचार्य तो प्रसन्न ही थे, अतः बोले—"अच्छी बात है जो पुत्र प्रसन्नता से तुम्हारी वृद्धावस्था ग्रहण करे, वही तुम्हारे पीछे राजा हो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार वरदान पाकर देवयानी सहित राजा अपने पुर में लौट आये। राजा के शरीर में वृद्धावस्था घुस गई थी। राजा के शरीर में वृद्धावस्था ने कैसे प्रवेश किया और कैसे वे कामना के वश होकर स्वर्ग गये, पुराणों में इसका बड़ा ही सुन्दर हृदयस्पर्शी रूपक बाँधा गया है। मुनियो ! आपकी इच्छा हो, तो इसे भी मैं आपको सुनाऊँ।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! हम तो समझते हैं, आप जितनी भी कथा कहते हैं, सब कोई न कोई रूपक ही है। यह दूसरी बात है, हम उस रूपक के अभिप्राय को न समझ सकें। इससे यह न समझना चाहिये कि चन्द्र, ऐल, ययाति, मान्धाता आदि ऐतिहासिक पुरुष नहीं थे। हाँ, तो आप हमें उस रूपक को अवश्य सुनावें।"

इस पर हँसते हुए सूतजी बोले—"महाराज ! यह जितना दृश्य प्रपञ्च है, सब रूपक ही है। इसमें एकमात्र श्रीहरि ही सत्य

है। जैसा होने को होता है, वैसा ही वायुमंडल सूक्ष्म जगत् में बन जाता है। शुक्राचार्य का शाप तो निमित्त-मात्र है। राजा के विरुद्ध तो देवता पहले ही से षड्यन्त्र रच रहे थे। वे किसी प्रकार राजा को स्वर्ग बुलाना चाहते थे। राजा यहीं पृथ्वी पर कथा-कीर्तन का प्रचार करके वैकुण्ठ बनाना चाहते थे। जब मातलि द्वारा बुलाने पर भी महाराज ययाति स्वर्ग न पधारे, तब इन्द्र को बड़ी चिन्ता हुई। वे राजा को बुलाने का अन्य उपाय सोचने लगे।"

एक दिन देवराज इन्द्र ने कामदेव, वसन्त, मलयानिल तथा गाने-बजाने वाले बहुत से गन्धर्वों को बुलाकर कहा—"तुम लोग अपनी सरसता के लिये संसार में सर्वत्र प्रसिद्ध हो। किसी प्रकार तुम महाराज ययाति के चित्त को आकर्षित करके उन्हें स्वर्ग में लाओ।"

देवराज की बात सुनकर कामदेव ने कहा—"प्रभो! महाराज ययाति बड़े धर्मात्मा हैं। उन्होंने पृथ्वी पर ही वैकुण्ठ बना रखा है। वे हमारे कार्यों से कैसे आकर्षित हो सकते हैं? फिर भी हम जाते हैं, सिद्धि-असिद्धि भगवान् के हाथ में है।" यह कहकर गाने बजाने वाली नाटक-मण्डली बनाकर राजा ययाति की सभा में गये।

राजसभा में पहुँचकर उन लोगों ने महाराज की जय-जयकार किया और कहा—"महाराज! हम लोग एक धार्मिक नाटक आप को दिखलाना चाहते हैं।"

राजा ने अपने सभी मन्त्री-पुरोहितों को एकत्रित किया, सब से सम्मति ली। सबने कहा—"महाराज! धार्मिक नाटक में क्या हानि है?" सब की सम्मति मानकर राजा ने अभिनय की आज्ञा प्रदान कर दी। राजद्वार में नाटक की तैयारियाँ होने लगीं। रङ्ग-

मञ्च सजाया गया। ये सब तो देवता ही थे, इन्होंने रङ्गमञ्च को इतना सुन्दर सजाया कि दर्शक आश्चर्य-चकित हो गये। प्रजा के बहुत से लोग नाटक देखने आये। नाटक खेला जाने वाला था, "बटु वामन विजय।" उस नाटक में साक्षात् कामदेव तो सूत्रधार बने। उनकी पत्नी रति ने नटी का वेप बनाया। वसन्त ने पारिपार्श्वक का कार्य किया। उसने अपने हाव-भावों से राजा का मन अपने वश में कर लिया। सभी पात्रों ने अभिनय के अनुरूप दिव्य वस्त्राभूषण धारण किये थे।

जिस नाटक में स्वयं कामदेव और रति ही नृत्य, गीत आदि के सहित अभिनय करें उसकी सुन्दरता के सम्बन्ध में तो कुछ कहते ही नहीं बनता। कामदेव ने अपने कौशल से राजा का चित्त ऐसा आकर्षित कर लिया, कि राजा शरीर की सुधि भूलकर चित्रलिखे के समान अभिनय देखने लगे। पात्रों के नृत्य, गीत सम्वाद और ललित हास से सम्मोहित होकर उनकी वृत्ति तदाकार हो गई। इसी बीच उन्हें लघुशंका लगी। तुरन्त लघुशङ्का से निवृत्त होकर वे अपने आसन पर आ बैठे, हाथ पैर धोना, कुल्ला आचमन करना भूल ही गये। इस अशुचि को देखकर अवसर पाकर जरा उनके शरीर में प्रवेश कर गई। राजा को पता भी न चला कि उनके शरीर में वृद्धावस्था ने कब प्रवेश किया। कामदेव भी अवसर पाकर उनके अङ्गों में व्याप्त हो गये। अब तो राजा काम के वशीभूत हुए। नाटक समाप्त हुआ। राजा का चित्त अब शर्मिष्ठा-देवयानी से तृप्त न होकर और भी कुछ चाहता था।

एक दिन राजा मृगया के निमित्त वन में गये। एक बड़े शूकर का पीछा करते हुए वे एक सुन्दर स्वच्छ सलिल वाले सरोवर के समीप पहुँचे। वहाँ उन्होंने क्या देखा कि एक अत्यन्त ही सुन्दरी

रूपवती युवती वीणा बजाकर गान कर रही है। राजा थके हुए थे। रथ से उतर कर उन्होंने उस विस्तृत सरोवर में स्नान किया, जल पान किया। कमल की गन्ध वाले जल में नहा कर राजा का शरीर फूल सा हो गया। उस मधुर संगीत की श्रुति-मधुर ध्वनि राजा के कर्ण-कुहरों में अमृत-सा उड़ेल रही थी। वीणा की ध्वनि में तदाकार हुआ, किसी कामिनी का कोकिल-कूजित कण्ठ उनके हृदय में रह-रहकर उत्कण्ठा, अभिलाषा तथा कामना उत्पन्न कर रहा था। उस ध्वनि का अनुसरण करते हुए राजराजेश्वर महाराज ययाति उस स्थान पर पहुँचे, जहाँ वह युवती बैठी हुई वीणा बजाकर गा रही थी। राजा को देखकर वह लजाती हुई वीणा रखकर खड़ी हो गयी। उसके पास बैठी हुई उसकी सखी भी खड़ी हो गई। राजा ने शिष्टाचार प्रकट करते हुए कहा—"क्षमा कीजियेगा मुझे, मैं आपके संगीत में विघ्न बना। आपने गाना बन्द क्यों कर दिया? उसे ही सुनने तो मैं यहाँ आया था।"

इस सुन्दरी ने इन बातों का कुछ भी उत्तर नहीं दिया। राजा को एक सुन्दर-सा आसन देकर उनसे बैठने की प्रार्थना की। राजा चुपचाप उस आसन पर बैठ गये। उस सुन्दरी की आँखें कमल के समान सुन्दर और विकसित थीं। वे कानों तक फैली हुई थीं, उनमें कटीला काजल लगा हुआ था। उसका रूप अनूप था, तेज, ओज, लावण्य अद्भुत। राजा ने अनुभव किया कि विधाता ने इसके सदृश दूसरी स्त्री त्रैलोक्य में और न बनाई होगी। नाटक के समय ही उनके शरीर में सूक्ष्म रूप से प्रविष्ट काम उस सर्व श्रेष्ठ सुन्दरी के दर्शनों से तो विशाल रूप में प्रकटित हो उठा। उनके हृदय में धू-धू करके कामाग्नि जलने लगी। अत्यन्त ही मधुर वाणी में ममता सहित महाराज ने पूछा—

"सुन्दरि! तुम किसकी कन्या हो? यह तुम्हारी सुन्दरी सहेली कौन है। मैं तुम्हारा परिचय प्राप्त करने को अत्यन्त ही उत्सुक हूँ। मैं राजर्षि नहुप का पुत्र हूँ, ययाति मेरा नाम है। इस सप्त-द्वीपा वसुमती का मैं एकमात्र चक्रवर्ती सम्राट हूँ।"

यह सुनकर सुन्दरी कुछ भी न बोली। वह लजाती हुई अपनी सखी के मुख की ओर निहारने लगी। उसके अभिप्राय को समझकर शनैः शनैः उस सुन्दरी की सहेली विशाला राजा ययाति से बोली—"राजन्! मैं अपनी सखी का परिचय आपको देती हूँ। पूर्वकाल में शिवजी ने कामदेव को भस्म कर दिया था। इससे उनकी पत्नी रति को बड़ा दुःख हुआ। दुःख के कारण वह सदा इसी सरोवर में निवास करती थी। देवताओं को देवी रति पर दया आई। वे देवाधिदेव महादेव के निकट जाकर बोले—"प्रभो! रति अत्यन्त ही दुःखी है। उसके प्राणप्रिय पति को आप पुनः जीवित कर दें।"

देवताओं की प्रार्थना स्वीकार करते हुए कामारि भगवान् शूलपाणि बोले—"देवताओ! काम को हम जीवित तो किये देते हैं, किन्तु अब उसके अङ्ग न होगा, वह सभी प्राणियों के अंगों में व्याप्त होकर रहेगा। अनङ्ग नाम से वह संसार में प्रसिद्ध होगा। वसन्त इसका मित्र होगा और वह समस्त वलियों से भी वली होगा।' शिवजी के ऐसा वरदान देते ही काम वहाँ प्रकट हुआ। शिवजी ने उसे रति के निकट भेज दिया। विना शरीर के पति को लेकर रति को सन्तोष कैसे हो सकता था। अन्य सभी पुरुषों के अंगों में काम व्याप्त होने से सभी काम के वश हो गये। रति इस सरोवर में अब तक रहती है। काम भी सूक्ष्म रीति से अपनी प्रिया के प्रेम से यहाँ रहता है। इसलिये यह 'काम-सरोवर' है। रति को शिव कोप से दारुण दुःख

उत्पन्न हुआ है। उस दारुण दुःख से पति विहीना रति सदा अश्रु-विमोचन करती रहती है। रति के उन अश्रुविन्दुओं से महा शोक उत्पन्न होता है। जरा का जन्म भी उन्हीं अश्रुओं से होता है। वियोग, दुःख सन्ताप, और मूर्छा का जन्म भी उन्हीं शोक-जन्य अश्रुओं से होता है। शोक से काम ज्वर, विभ्रम और प्रलाप प्रकट हुए। प्रलाप का पुत्र उन्माद और पुत्री विह्वलता हुई। उन्माद से ही मृत्यु का जन्म हुआ। ये सब महाशोक की सन्तानें हैं।

एक बार अस्थायी रूप रखकर रति पति कामदेव किसी के कहने से यहाँ रति के निकट आये। पति को देखकर रति अत्यन्त ही आनन्द युक्त हुई। उन शोक के अश्रुओं के भीतर ही आनन्द के अश्रु उत्पन्न हुए। उनसे प्रीति नामक पुत्री हुई। प्रीति के तीन पुत्रियाँ हुई–बड़ी का नाम ख्याति, मझली का नाम लज्जा और छोटी का नाम शान्ति हुआ। महानन्द नामक एक पुत्र भी हुआ। शान्ति के शुभदायिनी लीला और सुखदायिनी क्रीड़ा– ये दो पुत्रियाँ और मनोभाव तथा संयोग–ये दो पुत्र हुए। रति के वाम नेत्र से जो आनन्दाश्रु जल में गिरा, उससे एक कमल उत्पन्न हुआ और कमल से सुन्दर अङ्गों वाली, प्राणियों को अपने दर्शनों से सुख देने वाली सभी इन्द्रियों और मन को आकर्षित करने वाली यह स्त्री उत्पन्न हुई। यह रति की कन्या है, 'अश्रु-विन्दुमती' इसका नाम है। प्रेम में और शोक में तुरन्त ही इसके नेत्रों से टप-टप आँसू निकल पड़ते हैं। यही इस सुन्दरी युवती का परिचय है। राजन्! मैंने अपनी सहेली का परिचय आपको दिया। आप और क्या पूछना चाहते हैं?"

महाराज ययाति ने कहा—"देवि! तुमने अपनी सखी का परिचय तो दिया, किन्तु अपना परिचय नहीं दिया। तुम कौन हो? और इस सुन्दरी के साथ क्यों रहती हो?"

विशाला ने कहा—"राजन् ! मेरा क्या परिचय ? मैं तो लोक पाल वरुण की पुत्री हूँ, विशाला मेरा नाम है। मेरी और इसकी स्वाभाविक मैत्री है। इसके स्नेह वश में इसके समीप रहती हूँ।"

राजा ने कहा—"यहाँ तुम्हारी सखी के रहने का कारण क्या है ?"

विशाला ने कहा—"अब महाराज ! आप जानते ही हैं, यह युवती हो गई है, किसी जीवन-संगी की खोज कर रही है। योग्य पति मिलने पर यह उसकी जीवन संगिनी धर्मपत्नी बन जायगी। संसार रूपी पथ को जीवन रूपी रथ द्वारा एकाकी पार करना कठिन है। पुरुष को स्त्री की और स्त्री को पुरुष की अपेक्षा रहती है। जैसे पक्षी एक पंख से नहीं उड़ सकता, रथ एक पहिये से नहीं चल सकता, अग्नि एक अरणी से उत्पन्न नहीं हो सकती एक हाथ से जैसे ताली नहीं बज सकती, इसी प्रकार एकाकी जीवन काटना कठिन हो जाता है। अतः यह योग्य वर के लिये तप कर रही है।"

राजा ने उत्सुकता के साथ पूछा—"तुम्हारी यह सखी कैसा पति चाहती है ?"

विशाला बोली—"यह चाहती है, मेरा पति सदय, सुहृद, सुबुद्ध, सुप्रिय तथा सभी सद्गुणों से युक्त हो, उसका यौवन स्थिर हो, परम पराक्रमी, महान् तेजस्वी, विपुल ऐश्वर्य-सम्पन्न प्रिय दर्शन, कामदेव के समान सुन्दर, कुलीन, रति-प्रिय और धर्माचरण करने वाला हो।"

राजा ने कहा—"देवि ! यदि मुझे तुम्हारी सखी स्वीकार करे, तो मैं इसमें अपना अहोभाग्य समझूँ। मैंने अपने पुरुषार्थ से पृथ्वी पर वैकुण्ठ स्थापित कर दिया है। प्रजा मुझे पिता के समान मानती है, मैं सदा दीन दुखियों के दुःखों को दूर करता रहता

हूँ, गुरुजनों का आदर करता हूँ। मैंने सप्तद्वीपवती वसुमती को अपने बाहुबल से जीता है, मेरे ऐश्वर्य को देखकर देवराज इन्द्र भी स्पृहा रखते हैं। पूछ लो, यदि यह मुझे अपना पति बना ले, तो मेरा जीवन सफल हो जाय।"

विशाला ने कहा—"महाराज ! और तो सब बातें आप में हैं ही एक ही दोष आप में ऐसा है, जिसके कारण मेरी सखी आप को अपना पति नहीं बना सकती।"

राजा ने कहा—"वह कौन सा दोष तुम मुझ में देख रही हो, उसे मैं दूर करने का प्रयत्न करूँ।"

विशाला ने कहा—"महाराज आपके शरीर में वृद्धावस्था ने प्रवेश किया है। स्त्रियों के लिये वृद्ध पुरुष प्रिय नहीं होता। वृद्धावस्था जिसके शरीर में प्रवेश करती है, उसका तेज, बल, वीर्य और भोग शक्ति नष्ट हो जाती है। भोग-शक्ति तो युवावस्था में ही यथेष्ट रहती है। आप यदि युवक होते, तो मेरी सखी आपको सहर्ष स्वीकार कर लेती।"

राजा ने कहा—"देवि ! मुझे वृद्धावस्था तो शुक्राचार्य के शाप से प्राप्त हुई है। मुझे आचार्य का यह भी वर है, कि मैं जिससे चाहूँ, अपनी वृद्धावस्था बदल कर उसकी युवावस्था ले सकूँ।"

विशाला ने कहा—"यदि ऐसी ही बात है, तो आप अपने पुत्रों में से किसी एक को अपनी वृद्धावस्था देकर उससे उसकी यौवनावस्था ले लें। तब यह आपको अपना पति बना लेगी, फिर आप इसके साथ आनन्द-सहित सुखोपभोग करें।"

राजा ने कहा—"अच्छी बात है, मैं जाकर अपनी वृद्धावस्था अपने पुत्रों को दूँगा। जो मेरी आज्ञा का पालन न करेगा उसे क्रोध में भरकर शाप दूँगा। जो मेरी बात मानकर मेरी वृद्धावस्था

को ग्रहण कर लेगा, उसे ही मैं अपने राज्य का उत्तराधिकारी बनाऊँगा।"

यह कहकर राजा उन दोनों से अनुमति लेकर अपने पुर को चले गये। सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! हृदय में जब कामना हो जाती है, तब चित्त उसी में फँस जाता है। कामना पूरी न होने से क्रोध आता है। क्रोध से शाप उत्पन्न होता है। जरा में कामना की वृद्धि होती है और फिर कामना ही सब दोषों की जननी है। राजा अपनी वृद्धावस्था अपने पुत्रों को देने के लिये उत्सुक हो उठे।"

छप्पय

*मुनि प्रसन्न पुनि भये भूप तैं बोले बानी।*
*नृपवर ! मन की बात तुम्हारी सब हौं जानी॥*
*जाओ अपनी जरा बदलि तनयनि तैं लेओ।*
*सुत को यौवन पाइ यथारुचि विषयनि सेओ॥*
*राजा बोले—जरा जो, स्वीकारै मेरो तनय।*
*पावै सो सम्राट-पद, जग महँ यश, कीरति विजय॥*

# पूरु द्वारा ययाति को यौवन प्राप्त

[ ७६२ ]

उत्तमश्चिन्तितं कुर्यात् प्रोक्तकारी तु मध्यमः ।
अधमोऽश्रद्धया कुर्यादकर्तोच्चरितं पितुः ॥
इति प्रमुदितः पूरुः प्रत्यगृह्णज्जरां पितुः ।
सोऽपि तद्वयसा कामान् तथावज्जुजुपे नृप ॥❀

(श्री भा ९ स्क० १८ अ० ४४-४५ श्लो०)

छप्पय

एवमस्तु मुनि कही विहँसि नृप पुर महँ आये ।
पाँचों प्यारे पुत्र प्रेम तैं पास बुलाये ॥
शुक्र-शाप की बात बताई यौवन माँग्यो ।
यदु, अनु, तुर्वसु, द्रुह्यु, सुनत वच सर सम लाग्यो ॥
चारों ही पितु-वचन सुनि, वय देवे तैं नटि गये ।
क्षात्र-धर्म तैं शाप दे, भ्रष्ट भूप ने करि दये ॥

---

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! ययाति के यौवनावस्था माँगने पर उनके सबसे छोटे पुत्र पुरु ने कहा—"जो पुत्र पिता के चिन्तना किये कार्य को स्वतः करता हैं, वह उत्तम पुत्र है ; कहने पर जो करे, वह अधम और जो कहने पर भी न करे, वह तो पिता के मल-मूत्र के समान है।" ऐसा कहकर उसने प्रसन्नतापूर्वक अपने पिता की वृद्धावस्था ग्रहण कर ली। महाराज ययाति भी पुत्र के यौवन को प्राप्त करके यथेष्ट विषय-भोग करने लगे।"

संसार स्वार्थ से भरा है। सभी सम्बन्ध स्वार्थ से भरे हैं। हम स्वार्थ के वशीभूत होकर दूसरों से न माँगने योग्य प्यारी से प्यारी वस्तु की याचना कर बैठते हैं। जिससे हम जिस वस्तु की याचना कर रहे हैं, उसको उसे देने में क्या कष्ट होगा, इसे याचना करने वाला अनुभव नहीं करता, क्योंकि अर्थी को दोष नहीं दीखता। याचक का पद तो छोटा होता ही है, किन्तु याचक से भी छोटा वह है, जो वस्तु के रहते और दान देने की क्षमता होने पर भी, 'ना' कर देता है। जो अपना शरीर देकर भी माता-पिता की इच्छाओं को पूरी कर सके, संसार में वही सत्पुत्र यशस्वी होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज ययाति ने लौटकर अपने पाँचो प्रिय पुत्रों को प्रेमपूर्वक अपने पास बुलाया। सर्व-प्रथम उन्होंने अपने सबसे बड़े पुत्र यदु से कहा—"बेटा! मैं तुमसे एक वस्तु माँगूँगा। क्या तुम उसे मुझे दोगे?"

यदु ने कहा—"पिताजी! मेरा है ही क्या? सब आपका ही तो है। आज्ञा कीजिये।"

राजा ने कहा—"देखो, बेटा! तुम्हारे नाना ने मुझे वृद्ध होने का शाप दे दिया है।"

यदु ने कहा—"हाँ, तो मुझे इसके लिये क्या करना होगा? कोई यन्त्र मन्त्र, औषधि या और कोई वस्तु कहाँ से लानी हो, सो मुझे आज्ञा कीजिये।"

राजा ने कहा—"बेटा! यह जरा दूसरे उपाय से जाने वाली नहीं है, यौवनावस्था से बदली जा सकती है। तू मेरे शरीर से उत्पन्न हुआ है, मेरे सब पुत्रों में श्रेष्ठ है। तू अपनी जवानी से मेरी जरावस्था बदल ले।"

यदु ने घबड़ाकर कहा—"पिताजी ! आप ऐसा क्यों चाहते हैं ?"

प्यार से महाराज ययाति बोले—"देखो, बेटा ! तुम्हारी यौवनावस्था प्राप्त करके उसके द्वारा मैं कुछ वर्षों तक विषयों का उपभोग करूँगा।"

यह सुनकर यदु ने विनीत भाव से कहा—"पिताजी ! आप ही सोचें, जब तक मनुष्य विषय-सुखों का अनुभव ही न करेगा, तब तक उनकी ओर से विरक्त भी नहीं हो सकता। वृद्धावस्था में विषयों का भोग भली-भाँति हो नहीं सकता। बूढ़े मनुष्य का वेष विकृत हो जाता है, उसकी दाढ़ी-मूँछें सफेद हो जाती हैं, मुख पिचक जाता है, सिर हिलने लगता है, बूढ़े बन्दर की सी सूरत हो जाती है, अंग शिथिल पड़ जाते हैं, खाल लटक जाती है, दाँत टूट जाने से मुँह पोपला हो जाता है, शब्द शुद्ध उच्चारण नहीं होते। अतः मुझे इसके लिये क्षमा कीजिये।"

तब राजा ने अपने दूसरे पुत्र तुर्वसु से कहा—"बच्चा ! क्या तुम मुझे अपनी युवावस्था दे सकते हो ?"

तुर्वसु ने कहा—"पिताजी ! अभी तो मैंने संसार में कुछ भी सुख नहीं भोगा। मैंने बड़े-बड़े युद्धों में बल प्रदर्शित भी नहीं किया। वृद्धावस्था ग्रहण करते ही तो मेरा रूप कुरूप हो जायगा, बल-वीर्य नष्ट हो जायगा, शक्ति क्षीण हो जायगी, भोग भोगने की सामर्थ्य जाती रहेगी। अतः मैं असमय में वृद्धावस्था ग्रहण नहीं कर सकता।"

अब उन्होंने शर्मिष्ठा के पुत्र द्रुह्यु से कहा—"बेटा ! तुम मेरी वृद्धावस्था ग्रहण करके मुझे अपनी युवावस्था दे सकते हो ?"

यह सुनकर द्रुह्यु ने कहा—"पिताजी ! वृद्धावस्था में बड़ा दोष है। पैदल चला नहीं जाता। हाथी, घोड़ा, रथ आदि वाहनों

पर चढ़ें, तो शीघ्र थकावट आ जाती है। दाँत न रहने से न तो कोई कड़ी चीजें खा सकते हैं, न शुद्ध उच्चारण ही कर सकते हैं। अतः मैं आपकी वृद्धावस्था ग्रहण करने में सर्वथा असमर्थ हूं।"

फिर राजा ने अपने चतुर्थ पुत्र अनु से कहा—"बेटा! तुम मुझे अपनी युवावस्था दे सकते हो?"

अनु ने कहा—"पिताजी! मैंने तो अभी संसार के कुछ भी भोग नहीं भोगे। अग्निहोत्र, दान, धर्म तथा बड़े बड़े यज्ञों का अनुष्ठान भी मैंने नहीं किया। वृद्धावस्था में सभी कर्म करने में आलस्य हो जाता है, पवित्रता-अपवित्रता का भी उतना ध्यान नहीं रहता, जीवन सदा दूसरों के अधीन हो जाता है। अतः मेरी ऐसी सामर्थ्य नहीं है।"

राजा ने अपने सबसे छोटे पुत्र पूरु को बुलाया और कहा—"देख, बेटा! तू मेरा सबसे प्यारा पुत्र है। ये सब तो धूर्त हैं, मेरी आज्ञा का पालन नहीं करते। मैं एक सहस्र वर्ष तेरी युवावस्था से संसारी सुख और भोगना चाहता हूँ। पीछे मैं तेरा यौवन तुझे पुनः लौटा दूंगा। और इन सबों को तो मैं शाप दूँगा।"

पूरु ने हाथ जोड़कर कहा—"पिताजी! आप ऐसी बात क्यों कह रहे हैं? मुझसे पूछने की क्या आवश्यकता है? आप मेरे इस शरीर के सर्वथा स्वामी हैं। हे देव! संसार में पिता से बढ़कर और कौन उपकारी होगा? पिता के उपकार का बदला पुत्र सैकड़ों जन्मों में भी नहीं दे सकता। हमें तो आपकी इच्छा समझकर ही आपका प्रिय कार्य करना चाहिये। आपने तीन प्रकार के पुत्रों में मुझे अधम बना दिया।"

ययाति ने पूछा—"तीन प्रकार के पुत्र कौन कौन होते हैं? यह बात मुझे सुनाओ।"

पूरु बोले—"पिताजी! उत्तम पुत्र तो वह है, जो पिता के

मनोगत भावों को समझकर बिना कहे ही उसके कार्यों को श्रद्धापूर्वक करे। मध्यम वह है, जो पिता के कहने पर बिना श्रद्धा के केवल बेगार टाल देता है। जो अश्रद्धा से करता है, वह अधम पुत्र है। और जो पिता के कहने पर भी उनकी बात नहीं मानता, वह तो पुत्र है ही नहीं। इसलिये पिताजी! आप जो भी आज्ञा देंगे, मैं वही करूँगा। आप एक सहस्र वर्ष के लिये कहते हैं, मैं तो जीवन भर के लिये अपनी युवावस्था आपको देने को तत्पर हूँ।" यह कहकर पूरु ने संकल्पपूर्वक अपनी युवावस्था दे दी और शुक्राचार्य का स्मरण करके राजा ने उसे ग्रहण कर लिया।

राजा ने प्रसन्न होकर पूरु को आशीर्वाद दिया—"तुम मेरे राज्य के पूर्ण अधिकारी हो, सम्राट-पद तुम्हें ही प्राप्त हो। तुम यशस्वी, तेजस्वी और दीर्घायु हो। यह वंश तुम्हारे ही नाम से संसार में प्रसिद्ध हो!" इस प्रकार पूरु को वरदान देकर राजा ने शेष अपने चार पुत्रों को क्रुद्ध होकर शाप दिया। उन्होंने यदु को शाप देते हुए कहा—"जा, तेरे वंश के लोग राज्य के अधिकारी न होंगे।"

यदु ने हाथ जोड़कर कहा—"पिताजी! आप मुझे ऐसा दारुण शाप क्यों दे रहे हैं? मैं आपका प्रथम पुत्र हूँ, असमर्थ होने से ही मैं आपकी आज्ञा का पालन न कर सका।"

इस पर महाराज ययाति ने कहा—"अच्छी बात है, विष्णु भगवान् की कृपा से तेरे वंशज भी राजा होंगे और जब तेरे वंश में आनन्दकन्द व्रजचन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र उत्पन्न हो जायँगे, तब तेरा वंश विशुद्ध बन जायगा।"

यह कहकर वे तुर्वसु से बोले—"तूने कठोर शब्दों से मेरा तिरस्कार किया है, अतः तेरा वंश न चलेगा। तू अति संकीर्ण धर्माचरण करने वाले, अपने ही गोत्र में विवाह करने वाले,

वर्णसंकर जाति वाले, क्रूर, हिंसक, मांस-भोजी, गुरु-पत्नी-गामी, म्लेच्छ-चण्डालों का राजा होगा।" इस प्रकार तुर्वसु को शाप देकर राजा ने द्रुह्यु की ओर देखा।"

द्रुह्यु को सम्बोधित करके राजा बोले—"द्रुह्यु! तूने मेरी बात नहीं मानी। अतः तेरे वंशज समुद्र-पार के द्वीपों के निकट पार्वत्य प्रदेश के नाममात्र के राजा होंगे, जिनमें रथ, हाथी, नहीं चल सकेंगे, लोग पैदल या नौकाओं में यात्रा करेंगे। तुझे संसारी कोई सुख प्राप्त न होंगे।"

फिर अनु को शाप देते हुए महाराज बोले—"अनु! तूने वृद्धावस्था से अत्यन्त घृणा की है, अतः तू शीघ्र ही बूढ़ा हो जायगा। तेरे वंशज श्रौत-स्मार्त धर्मों से भ्रष्ट होकर अनार्य बन जायेंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार राजा ययाति ने अपने चारो पुत्रों को शाप दिया। पुरु की युवावस्था प्राप्त करके वे युवक हो गये। वे पुनः कामसर के समीप गये और काम-कन्या अश्रुविन्दुमती की सखी विशाला से बोले—"विशाले! अब मैं अपनी वृद्धास्था को अपने पुत्र को दे आया। अब यह आपकी सखी मुझे पतिरूप मे वरण करे।"

विशाल ने कहा—"राजन्! आपके शरीर से जरावस्था तो निकल गई, फिर भी आप में एक दोष शेष है। इस कारण मेरी सखी आपको वरण नहीं कर सकती।"

आश्चर्य-चकित होकर राजा ने पूछा—"वह कौन-सा दोष मुझ में और है?"

विशाला ने कहा—"हे नरनाथ! आपके देवयानी और शर्मिष्ठा ये दो अत्यन्त सुन्दरी पत्नियाँ और हैं। स्त्रियों के लिये

सौत का दुःख सबसे अधिक कष्टप्रद है। इसीलिये मेरी सखी आपको वरण न करेगी।"

राजा ने कहा—"देवि! तुम इसकी तनिक भी चिन्ता मत करो। वे तो तुम्हारी दासी बनकर रहेंगी। उनसे मेरा क्या प्रयोजन? मेरे राज, पाट, धन, स्त्री, पुत्र, शरीर तथा सर्वस्व की स्वामिनी तुम्हारी सखी होगी।"

यह सुनकर विशाला प्रसन्न हुई। तब महाराज ययाति विधिवत् उस काम-कन्या अश्रुविन्दुमती के साथ गन्धर्व-विधि से विवाह करके उसे अपने महलों में ले आये। वे यथेष्ट विषयों का भोग भोगने लगे। फिर भी महाराज अपने कर्तव्य से पराङ्मुख नहीं हुए।

महाराज ने समस्त प्रजाजनों को वैष्णवी दीक्षा दिलायी थी। सब भगवान् शालग्राम की पूजा, नियम से भगवत्कथा, सुमधुर संकीर्तन, चन्दन और तुलसी-माला धारण करते थे। सभी एकादशी व्रत करते। राजा पुत्रवत् सबके सुख-दुखों पर ध्यान रखते। यथेच्छ भोगों को भोगने पर भी भगवत्भक्ति के प्रभाव से राजा की इन्द्रियों की शक्ति अक्षुण्ण थी। देवयानी और शर्मिष्ठा राजा के रुख को ही देखकर ईर्ष्या-द्वेष-रहित भाव से राजा की सेवा करतीं। प्रारब्धवश काम-कन्या के वशीभूत होने से उनकी इन्द्रियाँ अब उच्छृङ्खल हो गई थीं, मन विषयलोलुप बन गया था। जिसे यह पता चल जाय, कि कुछ दिन में ये सब विषय-भोग उससे छिन जायँगे, वह उनका अत्यंत उत्सुकता से सेवन करता है। जो नित्य ही गंगातीर पर निवास करते हैं, उन्हें गंगाजल के सेवन में उतनी उत्सुकता नहीं होती। महाराज ययाति जानते थे, मुझे कुछ दिन में पुरु की यौवनावस्था लौटानी होगी, अतः वे सहस्र वर्षों तक निरन्तर विषय-भोगों को

भोगते रहे। फिर भी उनकी तृप्ति नहीं हुई। अन्त में उन्हें वैराग्य हुआ। उन्होंने अपनी जरावस्था पुत्र से ले ली। महाराज ने असंख्य राजसूय, अश्वमेध, आदि यज्ञ किये। उनका अनन्त पुण्य उनके साथ था। उन पुण्यों के सुखों को भोगते हुए इस संसार चक्र से सदा के लिये छूट गये।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महाराज ययाति को कैसे वैराग्य हुआ, कैसे वे स्वर्ग गये और किस अपराध से उन्हें पुनः पृथ्वी पर आना पड़ा? कृपा करके इन बातों को हमें अवश्य सुनाइये। राजर्षि ययाति का चरित तो बड़ा ही अद्भुत है।"

इस पर सूतजी बोले—"अच्छी बात है, मुनियो! महाराज ययाति का उत्तर-चरित समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

*पुत्र पूरु तैं भूप अन्त महँ माँग्यो यौवन।*
*सुनि सुत बोल्यो पिता तुम्हारो ई सब तन मन॥*
*यों कहि यौवन दयो जरा भूपति की लीन्हीं।*
*अति प्रसन्न पितु भये हरषि आशिष बहु दीन्हीं॥*
*बोले नृप गम्भीर ह्वै, पुत्र शब्द कीयो सफल।*
*बनहु चक्रवर्ती तुमहिँ, लहो जगत महँ यश विपुल॥*

# महाराज ययाति को वैराग्य

[ ७६४ ]

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
न दुह्यन्ति मनः प्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते ॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥*
(श्री भाग० ९ स्क० १९ अ० १३-१४ श्लोक)

छप्पय

यों सुत यौवन पाइ भोग भोगे संसारी ।
तौ ऊ तृप्ति न भई चित्त अति भयो दुखारी ॥
भयो विषय-वैराग्य विचारें नहिँ सुख पायो ।
बनि विषयनि को दास समय अब व्यर्थ गँवायो ॥
तृप्ति करि सकें विषय ये, विषय-ग्रस्त नर कूँ नहीं ।
शान्त होहि कहु प्रज्वलित-अग्नि विन्दु-घृत तैं कहीं ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! ययाति अपनी पत्नी देवयानी से कह रहे हैं—"पृथ्वी में जितना धान्य, यव, सुवर्ण तथा सुन्दरी स्त्रियां हैं ये सबकी सब वस्तुएं एक भी विषय-ग्रस्त पुरुष के चित्त को सन्तुष्ट नहीं कर सकतीं । विषयों के भोगने से कभी भी वासना शान्त नहीं हो सकती। यही नहीं, जैसे अग्नि में घृत की आहुति डालने से वह और अधिक बढ़ती है, वैसे ही विषयों के भोगने से विषयेच्छा अधिकाधिक बढ़ती जाती है।"

इकाई के आगे जितने ही विन्दु बढाते जाइये, उतनी ही उस की वृद्धि होती चलेगी। उसी प्रकार ससारी विषयों को जितना ही भोगो, उतनी ही उनमें अधिकाधिक इच्छा बढती जायगी। विषयास्वाद एक ऐसा धन है, जिसका चक्रवर्ती व्याज निरन्तर बढता ही रहता है। जब इन्द्रियाँ विषय भोगों की अभ्यस्त हो जाती हैं, तब उनके बिना रहा ही नहीं जाता। मरते-समय भी चित्त इन्हीं भोगे हुए विषयों में फँसा रहता है। जिसका जो सस्कार प्रबल हो गया, उसी की स्मृति में उसके प्राण छूटेंगे और दूसरे जन्म में उन्हीं की प्राप्ति में प्राणी प्रयत्नशील होगा। अतः समस्त इन्द्रियजन्य विषय ससार-चक्र को और दृढ बनाने वाले हैं। विषयों में फँसना ही दुःख है। विषयों से विमुक्त होना ही परम सुख है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज ययाति अपने पुत्र पुरु की यौवनावस्था लेकर सभी प्रकार के ससारी सुखों को भोगते रहे। राजा जितने ही भोगों को भोगते, उतने ही अधिक अशात बनते जाते। उन्होंने अनुभव किया, कि वे आत्मपात की ओर आ रहे हैं। फिर तो उन्हें बडी आत्मग्लानि हुई, कि वे सम्पूर्ण भूमण्डल के सम्राट् आज स्त्रियों के क्रीडामृग बन गये, विषयों के दास हो गये। अब उन्हें सभी विषय-सुख फीके-फीके दिखाई देने लगे।

एक दिन उन्होंने अपनी धर्म पत्नी देवयानी को बुलाया। वह बडी श्रद्धा के साथ स्वामी के समीप गई। महाराज बोले—"प्रिये! आज मैं तुम्हें एक कहानी सुनाना चाहता हूँ, सुनोगी?"

देवयानी ने स्नेहपूर्वक कहा—"हाँ, सुनाइये, प्राणनाथ! मेरा परम सौभाग्य है, जो आप मुझे कहानी सुनावेंगे।"

राजा ने कहा—"देखो, ध्यानपूर्वक कथा सुनो।"

देवयानी बोली—"दत्तचित्त होकर ही कथा सुनूँगी, सुनाइये।"

राजा बोले—"एक बड़ा भारी वन था। वन था बड़ा गहन, बड़ा ही मनोहर। उसमें एक बड़ा भारी हृष्ट-पुष्ट बकरा रहता था। उसके बड़ी दाढ़ी थी, शरीर में बहुत बल था। एक बार वह अपने इच्छित विषयों को खोजते-खोजते एक अन्धकूप के समीप पहुँचा। उसमें बड़ी लम्बी-लम्बी हरी-हरी सुन्दर दूब थी। ज्योंही वह उस दूब के लालच से कुएँ में झाँका, त्योंही उसे उसमें एक बैठी हुई बकरी दिखाई दी। प्रिये! तुम जानती ही हो, एकान्त में बकरे को बकरी मिल जाय, तो उसकी कैसी दशा होती है। बकरे ने सोचा, किसी प्रकार यह बकरी अपनी संगिनी बकरियों के झुण्ड से बिछुड़ कर इस कुएँ में गिर पड़ी है, इसे किसी उपाय से बाहर निकालना चाहिये। उसने अपने पैने सींगों से एक मार्ग तैयार किया। बकरी बड़ी-बड़ी दूबों को मुख से पकड़ कर बकरे के बनाये मार्ग पर पैर रखकर कुएँ से बाहर आ गई।"

देवयानी ने पूछा—"फिर क्या हुआ?"

राजा ने कहा—"बकरी पूँछ हिला-हिलाकर अपने खुरों से बकरे के शरीर को सुहलाने लगी। बकरा भी उसके रूप पर मुग्ध हो गया। बकरी ने उसको आत्म-समर्पण कर दिया, बकरे को अपना पति बना लिया। हृष्ट-पुष्ट, सुन्दर, बलिष्ठ बकरे को अत्यन्त ही रति-सुखदायक समझकर और भी बहुत-सी बकरियाँ में-में करती हुईं उसके चारों ओर आ गईं और उन सबने भी उसे अपना पति बना लिया। वह तो कामी था ही। उन बकरियों में वह इतना आसक्त हो गया, कि अपनी सभी सुध बुध भूल गया।"

देवयानी ने तुनक कर कहा—"यह क्या तुम बेसिर-पैर की, बच्चों की-सी, कथा कह रहे हो? आगे कहो फिर क्या हुआ।"

राजा ने कहा—"अरे, शीघ्रता मत करो, शान्ति के साथ कथा सुनो।"

राजा ने कहा—"हाँ, तो जो बकरी कुएँ में से निकली थी, किसी योगयुक्त ब्राह्मण की थी। ऐसे ब्राह्मण भी बकरी रखते थे। यह जो कुएँ वाली बकरी थी, बड़ी मानिनी थी। इसे गर्व था, कि मैं ही बकर की सबसे प्यारी पत्नी हूँ। एक दिन उसने किसी दूसरी बकरी से इस बकरे को अत्यन्त ही प्रेम करते देखा। इसे देखकर यह कूपवाली बकरी जल-भुनकर खाक हो गई। उसके उस कर्म को बकरी ने विश्वासघात समझा। उसने अनुभव किया, यह मेरा पति अत्यन्त ही इन्द्रिय-लोलुप क्षणिक प्रीति करने वाला, बनावटी प्रेमी है। अतः वह अत्यन्त दुःखित होकर पालक के पास मे-मे करती हुई भाग गई।"

जब उस कामी बकरे को यह बात विदित हुई, तब वह बहुत घबड़ाया। वह इन्द्रिय-लोलुप अपनी बकरी के पीछे-पीछे मिमियाता गिड़गिड़ाता चला। उसने बकरी के हाथ जोड़े, पैरों पड़ा, अपनी दाढ़ी से उसके शरीर की धूल पोंछी, किन्तु वह मानिनी कब मानने वाली थी। वह मार्ग भर उससे बोली नहीं और अपने पालक पिता के पास पहुँच गई।"

देवयानी ने कहा—"फिर उसके पिता ने क्या कहा।"

राजा बोले—"हाँ, वही तो सुना रहा हूँ। उस बकरी ने जाते ही बकरे की बहुत-सी बुराइयाँ बताईं। क्रोधी ब्राह्मण ने एक अत्यन्त ही तीक्ष्ण छुरा निकाला और उस बकरे के बड़े-बड़े वृषण काट लिये। बकरा नपुंसक बन गया।"

देवयानी ने तुनक कर कहा—"रहने भी दो, अपने मन से कहानी गढ़ रहे हो, अंट-संट बक रहे हो।"

राजा ने कहा—"मान लो, मैं मन से ही बना रहा हूँ! जो

क्या मन से कथा बनाना कोई अपराध है ? ये कवि, लेखक सब मन से ही तो बनाते हैं ? इस सृष्टि की रचना भी तो श्रीहरि मन से ही करते हैं। मन ही तो बन्धन-मोक्ष आदि समस्त कार्यों का हेतु है।"

देवयानी बोली—"यह मुझे विदित नहीं था कि तुम कविता भी करते हो, कहानी भी बनाते हो ?"

राजा ने कहा—"अच्छा, तुम्हें मेरी कहानी रुचिकर नहीं लगती, तो उसे बन्द करता हूँ।"

देवयानी ने कहा—"नहीं-नहीं, । तो फिर क्या हुआ ?"

राजा बोले—"वृषणों के कट जाने से बकरा बड़ा दुःखी हुआ। उसका रुदन सुनकर उन योगवित् द्विजवर को दया आ गई। बकरी की भी स्वार्थ की उन्होंने हानि देखी, अतः उन विप्र वर ने एक सुन्दर यन्त्र द्वारा उसके कोशों को पुनः वहीं लाकर सी दिया। अब बकरा परम प्रमुदित हुआ। वह पुनः उस बकरी के साथ बहुत दिनों तक भोग भोगता रहा। ज्यों-ज्यों वह भोगों को भोगने लगा, त्यों-त्यो वह और अधिक असन्तुष्ट, दुःखी और चञ्चल होने लगा।"

देवयानी ने कहा—"यह क्या उपमा-अलंकार-सा जोड़ रहे हो। कौन बकरा, कौन बकरी ?"

राजा बोले—"बताऊँ ? बुरा मत मानना। तुम बकरी, मैं बकरा ! मैं तुम्हारे प्रेमपास में फँसकर अत्यन्त दीन-हीन हो गया हूँ आत्म विस्मृत बन गया हूँ। भद्रे ! यह कामाग्नि बड़ी प्रबल है। यह भोगों से शान्त नहीं होती।"

देवयानी ने कहा—"सम्भव है, अधिक परिमाण में भोगने से तृप्ति हो जाय। जैसे बहुत भूखे को बहुत भोजन कराने से वह तृप्त हो जाता है।"

राजा बोले—"यह काम तो इतना प्रचण्ड भूत है, कि यह कभी तृप्त हो नहीं सकता। जलती अग्नि मे जितना ही ईंधन डालो,उतना ही वह प्रचण्ड होगी। घृत डालो,तो उससे वह और प्रचण्ड होगी।"

देवयानी ने कहा—"इस दुःख से बचने का कोई उपाय नहीं है ?"

राजा ने कहा—"है क्यो नहीं ? किन्तु अत्यन्त कठिन। जिन वस्तुओ से हमारा ससर्ग होता है, उनमे से किसी के प्रति राग हो जाता है, किसी के प्रति द्वेष। राग से आसक्ति होती है, द्वेष से घृणा। आसक्ति और द्वेष से चित्त मे विषमता होती है। राग-युक्त वस्तु के तो नाश का भय बना रहता है, और द्वेष-युक्त वस्तु मे आक्रमण का भय। उससे कहीं शान्ति नहीं मिलती। जब मनुष्य सभी को समान भाव से देखता है, न किसी से राग करता है, न द्वेष, तब उस समदर्शी पुरुष के लिये सभी दिशाएँ सुखमयी बन जाती हैं। जब दूसरा कोई है ही नहीं, सब अपने ही आत्मीय-सुहृद हैं, तो फिर भय का क्या काम ? दुःख संग्रह से होता है। संग्रह तृष्णा से किया जाता है। तृष्णा ऐसी अमरबेलि है कि वह बढ़ती ही जाती है। शरीर के जीर्ण होने पर भी तृष्णा जीर्ण नहीं होती। ज्ञानी पुरुष तो विवेक-विचार द्वारा इसे छोड़ भी सकते हैं, किन्तु अज्ञानी पुरुषों के लिये तृष्णा का त्याग अत्यत ही कठिन है। जो सुख की इच्छा रखता हो, उसे इससे बचते रहना चाहिये।"

देवयानी ने कहा—"भोग्य वस्तु सम्मुख आ जाती है, तब उसे भोगने की इच्छा होती ही है। यह इच्छा कैसे जाय ?"

राजा ने कहा—"अग्नि और तृण साथ-साथ रहेंगे, तो उनमे अग्नि उत्पन्न होगी ही। घृत अग्नि के समीप रहेगा, तो पिघल ही

जायगा। इसलिये साधक को जहाँ तक हो, विषयों से सदा बचते ही रहना चाहिये।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह कैसे सम्भव हो सकता है? पुरुष तो स्त्री से ही उत्पन्न होता है। घर में बहन, बेटी, पुत्र-वधू तथा और भी सम्बन्धी की युवतियाँ रहती हैं। इनसे कैसे बचा जा सकता है? गृहस्थियों की बात छोड़ दीजिये। साधुओं को भी रोटी तो माताओं से ही मिलती है। घर में तो गृह-स्वामिनी ही रहती हैं। साधु माँगने जायगा, तो उन्हीं से बातें करेगा, उन्हीं से अन्न-पानी लेगा, उनके ही समीप बैठकर खायगा। दर्शन करने भी स्त्री-पुरुष दोनों ही आते हैं। मेलों में पर्व उत्सवों में, विवाह आदि संस्कारों में, सब साथ रहते हैं; साथ उठते-बैठते, खाते-पीते हैं। संग-दोष से बचा कैसे जा सकता है।"

यह सुनकर सूतजी ने कहा—"अब महाराज! आप चाहें, जो कह लें। आप तो निरन्तर कथा-कीर्तन में संलग्न रहते हैं। आपको विषयासक्त मन वाले लोगों के चित्त का अनुभव नहीं है। भगवन्! जब मन में काम-भूत प्रवेश कर जाता है, तब मनुष्य का सब विवेक नष्ट हो जाता है। यह कल तक जिसे धर्म की बहन, धर्म की माता कहता था, कामासक्त चित्त हो जाने पर उसी पर वह कुदृष्टि डालने लगता है। रही संसर्ग की बात, तो संसर्ग-बिना संसार का काम चल ही नहीं सकता। जहाँ एकान्त होता है, वहीं चित्त चञ्चल हो जाता है। अतः युवक-युवतियों को सर्वथा एकान्त में मिलना न चाहिये। मिला भी जाय, तो सरस बातें न होनी चाहिये, हँसी-विनोद न करना चाहिये। एकान्त में एक आसन पर सटकर तो अपनी सगी बहिन, युवती पुत्री तथा समर्थ होने पर माता के साथ भी न

बैठना चाहिये। इस विषय में अपने बाबा गुरु भगवान् व्यास की कही हुई एक अत्यन्त मनोरञ्जक कथा मैं आपको सुनाता हूँ। आप उसे ध्यान पूर्वक श्रवण करें।"

### छप्पय

*राग द्वेष तें रहित शान्त नर होवे जबहीं।*
*समदरशी कूँ होहि दशों दिशि सुखमय तबहीं॥*
*तृष्णा दुख को मूल सहज गुन सब ही खोवे।*
*बूढ़ो होहि शरीर न तृष्णा बूढ़ी होवे॥*
*पावै सत सुख तबहिँ जब, होवै विषयनि तें विरत।*
*जो सुख चाहे जगत महँ, तृष्णा कूँ त्यागे तुरत॥*

## इन्द्रियों की बलवत्ता

[ ७६५ ]

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नाविविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥*
(श्री भा० ९ स्क० १९ अ० १७ श्लो०)

छप्पय

ज्येष्ठा श्रेष्ठा होहिं पूजनीया हू नारी।
युवती हांवै बहिन मातु-पुत्री अति प्यारी॥
तब हू है एकान्त न बैठे इनके सँग महँ।
सावधान नित रहे सटावै अँग नहिं अँग महँ॥
प्रवल प्रचण्ड पिशाच सम, यह इन्द्रिय समुदाय अति।
हांवै सम्मुख विषय लखि, पंडित हू की भ्रष्ट मति॥

प्राणी आकर्षण से ही क्रियायें करता है। जीवन में कुछ भी आकर्षण न हो, तो वह क्रिया क्यों करे! कुछ काम परलोक के सुख के आकर्षण से किये जाते हैं, कुछ इस लोक के सुख के आकर्षण से। परलोक का सुख तो श्रुतमात्र है। स्वर्ग में नंदनवन

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! पुरुषों को एकान्त में एक आसन पर अपनी माता, बहिन तथा पुत्री के साथ भी न बैठना चाहिये, क्योंकि ये इन्द्रियाँ अत्यन्त ही प्रबल होती हैं। ये विचारवानों को भी विचलित कर देती हैं।"

है, कल्पवृक्ष है, पीने को अमृत है, अत्यन्त सुन्दरी अप्सरायें हैं तथा चढ़ने को दिव्य विमान हैं। ये बातें कानों से सुनी जाती हैं। शास्त्रों में ऐसा वर्णन है, इसलिये श्रद्धा से, आस्तिक बुद्धि से इन पर विश्वास किया जाता है। वैसे साधारण लोगों ने इन सबको देखा तो है नहीं। कोई इनके आकर्षण से आकर्षित होकर परलोक-सम्बन्धी काम करता है, कोई नहीं भी करता। कोई कह देता है, हम शास्त्रों या परलोक को मानते ही नहीं, तो उनके सम्मुख देवता आकर कहते भी नहीं, कि तुम हमें मानो ही। किन्तु इस लोक के भोग तो प्रत्यक्ष हैं। सुन्दर शब्द को सुनकर कर्णेन्द्रिय स्वतः ही उसकी ओर आकर्षित हो जाती है। इसके लिये किसी बाहरी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। दूर से ही सुगन्धित वस्तु को सूँघकर घ्राणेन्द्रिय सुख का अनुभव करती है। आँखें रूप को देखकर स्वतः गड़ जाती हैं। सुखद स्पर्श से अङ्ग के रोम-रोम खिल उठते हैं। मधुर-स्वादिष्ट वस्तु का जिह्वा से स्पर्श होते ही वह लपलपाने लगती है। नारी में पाँचों ही विषय-जन्य सुख विद्यमान हैं। अतः ऐसा कौन वीर्यवान् पुरुष है जिसका एकान्त में अपने अनुकूल कामिनी को देखकर चित्त चंचल नहीं होता। यदि ऐसा कोई है, तो वह नर नहीं नारायण है। उसके पादपद्मों में हमारा पुनः पुनः प्रणाम है।

सूतजी ने कहा—"मुनियो! इन्द्रियग्राम अत्यन्त ही बलवान है। इसके द्वारा बड़े-बड़े विद्वान् भी मोह को प्राप्त हो जाते हैं। इस विषय में मैंने ऋषियों के मुख से अपने परम गुरु भगवान् व्यास के सम्बन्ध का जो इतिहास सुना है, मैं उसका वर्णन अपनी भाषा में करता हूँ।

पहले हस्तिनापुर में ही गंगाजी थीं। उसके सम्मुख पार में विदुरजी की एक कुटी है, जहाँ दुर्योधन के भाइयों की विधवा

दारायें आकर रही थीं। इसीलिये उस नगर का नाम दारानगर विख्यात हुआ। दारानगर गंगाजी के तट पर ही है। उसके समीप ही एक महात्मा कुटी बनाकर रहते थे। श्रीमद्भागवत में उनकी बड़ी निष्ठा थी। उसका वे बड़े प्रेम और नियम से पाक्षिक पाठ करते थे। वे बालब्रह्मचारी थे, कभी संसारी प्रलोभन उनके सम्मुख आये नहीं थे। इसीलिये वे कभी संसारी प्रलोभनों में नहीं फँसे थे। उनके सदाचार की आस पास के स्थानों में ख्याति थी। बहुत से स्त्री-पुरुष गंगा स्नान के निमित्त आते, महात्माजी के भी दर्शन कर जाते और आवश्यक वस्तुएँ भी भेंट कर जाते। महात्माजी आवश्यक वस्तु तो रख लेते, शेष वस्तुओं को वितरण कर देते, कुछ संग्रह नहीं करते थे। इसलिये लोग उनमें श्रद्धा रखते थे। वे किसी से विशेष सम्बन्ध नहीं रखते थे। घड़ियों तक बहुत से स्त्री-पुरुष, युवक-युवती उनके समीप बैठे रहते, वे अपने भजन-ध्यान में ही मग्न रहते। अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के निमित्त वे किसी से विशेष सम्पर्क भी नहीं रखते थे। शनैः शनैः उनके मन में यह बात बैठ गई, कि मैं जितेन्द्रिय हो गया हूँ। वे संयमी, सदाचारी, सरल तथा साक्षर भी थे। श्रीमद्भागवत् का पाठ करते-करते जब वे नवम स्कन्ध के १९ वें अध्याय के १७ वें श्लोक को पढ़ते, तब सोचते—व्यासजी ने,

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नाविविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वासमपि कर्षति ॥*

यह श्लोक क्यों लिखा, विद्वानों के मन को काम कैसे विच-

* अर्थात माता, बहिन और पुत्री के साथ एकान्त में एकासन पर न बैठे। यह इन्द्रियग्राम बड़ा बलवान् है, विद्वानों के मनको भी विचलित कर देता है।

लित करेगा, जिसका मन तनिक से प्रलोभन पर विचलित हो जाय, वह विद्वान ही कैसा ? वे ऐसा सोचते, और उस श्लोक को छोड़ देते।

उन दिनों भगवान वेदव्यास अन्तर्हित नहीं हुए थे। वे प्रकट रूप में गंगातट पर निवास करते थे। अतः वे महात्मा अपनी शंका का समाधान कराने सत्यवती नंदन पराशर तनय भगवान् वेदव्यासजी के समीप गये। महात्मा का भगवान् ने यथोचित आदर-सत्कार किया। कुशल-प्रश्न के अनन्तर महात्मा ने कहा—"भगवन् ! मैं एक शंका-समाधान के निमित्त आपके चरणों में आया हूँ।"

भगवान् व्यास ने कहा—"हाँ, भैया ! कहो, क्या शंका है ?"

उसने कहा—"भगवन् ! आपने श्रीमद्भागवत की रचना करके संसार का बड़ा उपकार किया। किन्तु, मुझे एक शंका है कि आपने—

> मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नाविविक्तासनो भवेत्।
> बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥

यह श्लोक क्यों लिखा ? विद्वानों के मन को इन्द्रियाँ कैसे विचलित कर सकती हैं ? आपके ही युवक पुत्र श्रीशुक नग्न होकर स्त्रियों में घूमते, जनक के महलों में वे अत्यन्त सुन्दरी युवती स्त्रियों में ही रहते। उन्होंने उन्हें फँसाने को भाँति-भाँति के हाव-भाव-कटाक्ष चलाये, किन्तु वे विचलित नहीं हुए।"

व्यासजी ने कहा—"भैया ! देखो, सब तो शुक नहीं हो सकते ! मैंने केवल शुक के ही लिये तो भागवत लिखी नहीं। शुक सनकादिक तो इसके अपवाद हैं। मैं तो अपने ही मन की कहता हूँ कि इन्द्रियों का विषयों में आकर्षण बड़ा प्रबल होता

है। देखो, मेरे धर्मात्मा, तेजस्वी पिता का एकान्त देखकर ही चित्त चंचल हो गया !"

महात्मा ने कहा—"महाराज ! आप लोगों की बात तो पृथक् है। आप सब तो कारक पुरुष हैं, भगवान् के अवतार हैं। आप सबकी चेष्टाएँ तो लोक-कल्याण के निमित्त होती हैं। किन्तु, साधारणतया मनुष्य संयम और सदाचार से रहे, तो यह बात नहीं की इन्द्रियाँ उन्हें हठात् विषयों में गिरा दें। आप अभिमान न समझें। मेरे आश्रम में तो एक से एक सुन्दरी युवतियाँ आती हैं, मैं उधर ध्यान ही नहीं देता। यही समझता हूँ, जैसे पेड़ पर कोयल आदि पक्षी बोलते हैं, वैसे ही ये सब बोल रही हैं।"

व्यासजी ने कहा—"भैया, यह तो ठीक ही है। तुम संयमी हो, सदाचारी हो, शास्त्रज्ञ हो। अच्छा है, तुम्हारा मन विचलित नहीं होता। किन्तु, फिर भी सबके सम्मुख स्त्रियों से मिलने में और बात है,सर्वथा एकान्त में मिलने से दूसरी बात है। मैंने उनसे मिलने का तो निषेध किया नहीं, इतना ही कहा है कि उनसे एकान्त में मिलना निरापद नहीं। वैसे मनुष्य पशु तो है नहीं, माता, बहिन, बेटी इन सबसे तो कोई-भेद-भाव ही नहीं। फिर भी सावधानी के लिये यह बात लिखी गई है। जब इन्द्रियाँ चंचल हो जाती हैं, हृदय में कामाग्नि प्रज्वलित हो उठती है, तब यह मनुष्य पशु से भी गया-बीता हो जाता है ! काम का वेग बड़ा प्रबल होता है। अभी तुम नये साधु हो। तुम्हारे सम्मुख कभी ऐसे प्रलोभन आये नहीं। यह भगवान् की कृपा है।"

महात्मा ने कहा—"नहीं, महाराज ! यह तो आपने अत्युक्ति ही कर डाली। मैं इसे मानने को तैयार नहीं। मैं तो इस श्लोक पर हड़ताल फेरे देता हूँ।"

व्यासजी ने कहा—"भई, तुम्हारी इच्छा—पुस्तक तुम्हारी है,

तुम चाहे जहाँ हड़ताल फेर दो। तुम्हारा ऐसा विश्वास है, तो फेर दो हड़ताल।" यह सुनकर महात्मा ने व्यासजी के सम्मुख ही उस श्लोक पर हड़ताल लगा दी और आश्रम पर आकर भजन-पाठ करने लगे।

मनुष्य का स्वभाव है, जिसे वह भूलना चाहता है, उसकी ओर अधिक याद आती है। वैसे जप में कभी सर्प याद न आवे, किन्तु आप कह दें कि जप के समय सर्प की याद न आनी चाहिये, तो हठात् सर्प की याद आवेगी। यही नहीं, निरन्तर सर्प का ही स्मृति बनी रहेगी। इसी प्रकार महात्मा ने उस श्लोक पर हड़ताल तो लगा दी, किन्तु मन में वह दृढ़ता से लिख गया। जब भी उस स्थल पर आते, चिरकाल तक इसी का विचार करते। वे बार-बार दृढ़ता से कहते, मैं कभी ऐसे प्रलोभनों में न पड़ूँगा।

एक दिन सायंकाल के समय वे श्रीमद्भागवत का पाठ कर रहे थे। आषाढ़ का महीना था। बड़े वेग से आँधी आई। धूल से सब कोठरी भर गई। उन्होंने पुस्तक रख दी, अग्नि को ठीक कर दिया, इधर-उधर टहलने लगे। इतने में ही वर्षा आरम्भ हुई। बादल घिर आये। अमावस्या की अन्धेरी रात्रि थी, चारों ओर बादल घिरे थे, बीच बीच में बिजली चमक उठती। उसी समय एक कोमल कण्ठ सुनायी दिया—"स्वामी जी! मैं आश्रय चाहती हूँ। क्या कृपा करके आश्रय देंगे?" इन शब्दों में करुणा, विवशता, दीनता, अधीनता तथा परम मृदुता भरी हुई थी। महात्मा जी कुटी से बाहर निकल आये। उन्हें एक स्त्री दिखायी दी। अन्धेरी रात्रि में वह एक छाया-सी दिखायी देती थी।

महात्मा जी असमञ्जस में पड़ गये, बोले—"तुम कौन हो? यहाँ कैसे आई?"

उसी स्वर में उस अबला ने कहा—"भगवन् ! मैं एक राज-कुमार की उप-पत्नी हूँ। कुमार अपनी स्त्रियों-सहित वन-विहार को आये थे। मैं वन में पुष्प तोड़ने आयी थी। उसी समय बड़े वेग से आँधी आ गई। मैं भटक गई तब से आश्रय ढूँढ़ती फिर रही हूँ। दैवयोग से यहाँ आपके समीप आ गई। आज रात्रि में मुझे आश्रय दे दें। प्रातः काल में चली जाऊँगी।"

महात्मा ने कहा—"देखो, देवि ! यहाँ स्त्रियों का काम नहीं। हम साधु हैं, अकेले रहते हैं। यहाँ से कुछ दूर पर एक और आश्रम है, वहाँ चली जाओ। यहाँ तुम्हारा रहना उचित नहीं।"

स्त्री ने कहा—"महाराज ! अब मैं इस अँधेरी रात्रि में कहाँ जाऊँगी। और कहाँ भटक जाऊँगी। मैं आपसे कुछ माँगती तो हूँ नहीं, आश्रय चाहती हूँ। इसमें तो कोई अनुचित नहीं। आप को अपने पर विश्वास नहीं या मुझ पर विश्वास नहीं ?"

महात्माजी ने कहा—"नहीं, तुम मेरी तो पुत्री के समान हो। अपने ऊपर मुझे पूर्ण भरोसा है। तुम्हारे ऊपर भी कोई अविश्वास करने का कारण दिखाई नहीं देता।"

स्त्री ने कहा—"अच्छा, हो भी मेरे ऊपर अविश्वास, तो मैं कोई साँप-बिच्छू तो हूँ ही नहीं। आप अपने ऊपर विश्वास रखिये। आपकी कुटी के एक कोने में अग्नि के सहारे मैं पड़ी रहूँगी। प्रातःकाल चली जाऊँगी। निराश्रय को आश्रय देना यह तो सभी का धर्म है, फिर महात्माओं की विभूति तो परोपकार के निमित्त ही होती है। परकार्यों को साधने से ही तो महात्माओं को साधु कहते हैं।" अब महात्मा क्या करते ? उसके ऐसे युक्ति युक्त सुन्दर, कोमल और सरस वचनों को सुनकर महात्मा का मन बदला। इतने में ही बिजली चमकी। बिजली

के प्रकाश मे महात्मा जी ने देखा, यह तो साकार सुन्दरता है। ऐसा सौन्दर्य उन्होंने कभी नहीं देखा था। उनका चित्त चञ्चल हो उठा। अब वे 'ना' न कर सके। उन्होंने कहा—"अच्छी बात है।"

महात्मा जी का आश्वासन पाकर वह कुछ आगे बढ़ी महात्मा जी ने दीपक जलाया। उसका सम्पूर्ण रेशमी महीन वस्त्र भीगा हुआ था, उसमे से छन-छन कर उसका सौन्दर्य निकल रहा था। प्रकाश में जो उन्होने उसके अनुपम लोकोत्तर सौन्दर्य को निहारा, तो उनका मन पानी-पानी हो उठा। चित्त की चञ्चलता बढ़ने लगी। उन्हे ऐसा लगा, मानो उन्हें कोई अपनी ओर बल पूर्वक खींच रहा है। महात्मा जी ज्ञानी थे, विवेकी थे, समझ गये कि यह सौन्दर्य का आकर्षण है, इसे अपने समीप रखना निरापद नहीं। अब इन्हें अपने मन पर अविश्वास होने लगा। फिर भी वे विवेक खो नहीं बैठे थे। उन्होंने कहा—"देवि! तुम्हारा यहाँ रहना उचित नहीं। समीप ही मेरी दूसरी कोठरी है, जिसमें मेरी जलाने की लकड़ियाँ रखी हैं। तुम उसमे चली जाओ।"

उसने कहा—"महाराज! जैसी आपकी आज्ञा। मुझे तो रात्रि काटनी है। आप जहाँ आज्ञा कर देंगे, मैं वहीं पड़ी रहूँगी। मुझे उस कोठरी को दिखा दीजिये, प्रकाश ले जाकर उसमे मुझे पहुँचा दीजिये।"

महात्मा ने कहा—"अच्छा, चलो।" यह कहकर वे आगे-आगे प्रकाश लेकर चले, पीछे-पीछे वह स्त्री चली। भजन-कुटी के समीप ही वह कुटी थी। मुनि ने स्त्री को एक कुशा का मोटा आसन, एक वल्कल तथा वस्त्र दिये और बोले—"तुम्हारे सब कपड़े भीग गये हैं, इन्हे उतार कर सुखा लो, इस वल्कल को

पहन लो।" उसने कहा—"महाराज की बड़ी कृपा है। बाहर तनिक प्रकाश लेकर खड़े रहें, तो मैं वस्त्र बदल लूँ।" महात्मा ने कहा—"अच्छा बदल लो। वे बाहर खड़े हो गये। उसके बहुमूल्य वस्त्रों से सुगन्धित द्रव्यों की सुगन्ध आ रही थी। उसके आभूषणों की आभा अनुपम थी। अङ्ग-अङ्ग से सौन्दर्य फूट-फूटकर निकल रहा था। मुनि का मन विचलित हो उठा। वे खोये-खोये से हो गये। उन्होंने समझ लिया कि मेरा मन मेरे हाथ से निकल गया। फिर भी इतने दिन के संयम के कारण उनका विवेक उन्हें छोड़ न सका। उन्होंने शीघ्रता से उस स्त्री से कहा—"देखो बेटी! अब तुम किवाड़ बन्द कर लो। हाँ, एक बात और स्मरण रखना। यहाँ समीप में ही एक भूत रहता है। वह अनेक रूप रख लेता है—"कभी बकरा बन के आता है, कभी भेड़िया बन के। वह जैसे का तैसा मेरा भी रूप बना लेता है। यदि रात्रि में वह मेरा रूप बनाकर भी तुमसे किवाड़ खोलने को कहे, तो भी तुम कभी मत खोलना। वह चाहे जितना विश्वास दिलावे, तुम उसके चक्कर में आ गई, तो भला न होगा।"

उस स्त्री ने सरलता से कहा—"नहीं, महाराज जी! मैं आप की आज्ञा का अक्षरशः पालन करूँगी। कोई भी मुझसे किवाड़ खोलने को कहेगा, तो मैं कभी भी न खोलूँगी अब आप जायें और विश्राम करें।" यह कहकर उसने भीतर से किवाड़ बन्द कर लिये और मुनि अपनी कुटी में आ गये।

महात्मा जी ने यह बनावटी झूठी भूत वाली बात इसीलिये कह दी, कि सम्भव है, उनका चित्त चञ्चल हो जाय, तो वह किवाड़ न खोले, वे अपने धर्म से बच जायें। किन्तु जब वे अपनी कुटी में आये, तब उन्हें इस बात पर पश्चात्ताप हुआ, कि यह बात उन्होंने क्यों कह दी। उन्हें रह-रहकर उसके सौन्दर्य

की स्मृति होने लगी। उनका चित्त उद्विग्न हो उठा। वे पाठ करने लगे पाठ में मन न लगा, उन्होंने पुस्तक रख दी। उन्होंने हाथ-पैर धोये, जल पिया, आसन पर आँख बन्द करके लेट गये। किन्तु नींद तो समीप की कोठरी में बन्द थी, वह मुनि की आँख में कैसे आवे? चित्त में अनेक विचार, अनेक भावनायें उठने लगीं—विचारों का बवंडर आ गया। महात्मा आसन पर लेटे न रह सके। बिना इच्छा के ईंधन वाली कोठरी के द्वार पर पहुँचे साहस नहीं हुआ, लौट आये। फिर मन न माना, वे फिर गये, फिर लौटे। ऐसे उन्होंने तीन-चार चक्कर लगाये। अन्त में साहस करके सम्पूर्ण मनोबल बटोर कर उन्होंने पुकारा—"बच्ची! सो गई क्या?"

भीतर से उसने कहा—"नहीं, महाराज जी! सोई तो नहीं।

अब तो महात्मा को साहस हुआ, बोले—"अच्छा तनिक किवाड़ तो खोल दे, तुमसे कुछ कहना है। पानी रखना तो मैं भूल ही गया। एक वल्कल से तुम्हारा काम न चलेगा, एक और ले ले।"

उसने कहा—"नहीं, महाराज! मुझे जल की आवश्यकता नहीं। वर्षा में प्यास लगती ही नहीं। मेरे कपड़े भी सूख रहे हैं। एक वल्कल से मेरा काम चल रहा है। आप कष्ट न करें, जाकर शयन करे।"

महात्मा ने कहा—"नहीं, सोने की तो कोई बात नहीं। तुम किवाड खोलो तो सही, कुछ और भी बातें करनी हैं।"

उसने ने कहा—"महाराज! कल होंगी बातें।"

महाराज ने कहा—"बात क्या है, तुम्हें कुछ आपत्ति है?"

उस स्त्री ने कहा—"हाँ मुझे आपत्ति है। आप महात्मा नहीं, भूत हैं। महात्मा का वेष बनाकर मुझे ठगने आये हैं। महात्मा-

जी मुझे पहले ही यह बता गये हैं।" यह सुनकर महात्मा खिल-खिलाकर हँस पड़े और बोले—"यह बात तो मैंने झूठ-मूठ कह दी थी। तुम मेरे ऊपर विश्वास करो। उस छेद में से देखो, मैं वही हूँ।"

स्त्री ने कहा—"मैं छेद में से भली-भाँति देख रही हूँ। आकार प्रकार, बोल-चाल सब आपकी वही है। यह बात भी महात्मा जी मुझे बता गये थे, कि मेरे ही जैसा बनकर वह आवेगा, तू विश्वास मत करना। सो, महाराज! चाहे आप भूत हों, या महात्मा, आज तो मैं किसी प्रकार किवाड़ नहीं खोल सकती। मैं महात्माजी के तो वश में हूँ, वे मुझे जो आज्ञा देंगे, मैं वही करूँगी। उनकी आज्ञा है, किवाड़ न खोलना। इसलिये मैं किवाड़ न खोलूँगी।

महात्मा बोले—"अच्छा, मैं दूसरे मार्ग से आ जाऊँ?

स्त्री ने कहा—"बड़ी प्रसन्नता से आ जाइये। मुझे तो कोई आपत्ति नहीं।" अब तो महात्माजी दूसरा उपाय सोचने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पश्चिम में कच्ची दीवाल के घर बनते हैं। वे खपड़ैल से नहीं छाये जाते। मोटी-मोटी लकड़ियाँ छत पर रखकर (जिन्हें सोट कहते हैं) इधर-उधर छोटी-छोटी लकड़ियाँ (किरचें) डालकर ऊपर से मिट्टी डाल देते हैं। इधर की मिट्टी ऐसी पक्की होती है, कि जल गिरने पर भी छत की कोई हानि नहीं होती। चोर लोग उन कच्ची छतों में सेंद देकर उन दो सोटों के नीचे से रस्सी द्वारा उतर कर चोरी कर ले जाते हैं। महात्माजी ने भी यही उपाय सोचा। वे छत पर चढ़ गये। वहाँ उन्होंने एक सेंद लगाई, उसकी किरचें निकालीं, दो सोटों के बीच में मार्ग बनाया। संयोग की बात, जहाँ फोड़ा, उन दोनों सोटों में वहाँ गाँठें थीं। उनके बीच से आदमी निकल नहीं सकता था।

अँधेरे में महात्माजी ने यह तो देखा नहीं। उन्होंने रस्सी ऊपर बाँधकर नीचे लटका दी और मुख के बल भीतर घुसे। दोनों हाथ और सिर नीचे निकल गये, किन्तु कमर बीच में फँस गई। उन्होंने बहुत बल लगाया, किन्तु अब न वे भीतर जा सके, न ऊपर ही निकल सके, त्रिशङ्कु की भाँति बीच में ही लटक गये। वे पूर्ण त्यागी होते, तो ऊपर के मह-जन तप आदि लोकों का सुख भोगते, ऊपर जाते, *गृहस्थ* होते, तो नीचे जाकर संसार का सुख भोगते, पुण्य करते, स्वर्ग जाते। अब वे न इधर के रहे, न उधर के। बीच में ही बाबाजी फँस गये। प्रातःकाल हो गया। गंगा नहाने बहुत से लोग आये। महात्माजी को अधर में लटका देखकर सब आश्चर्य करने लगे। प्रकाश होने पर महात्माजी ने देखा, कुटी के भीतर न स्त्री है, न अप्सरा। भूरी-भूरी दाढ़ी वाले व्यास भगवान् बैठे बैठे हँस रहे हैं और बार-बार भागवत के इस श्लोक को पढ़ रहे हैं—

> मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
> बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

इसे सुनकर महात्माजी लज्जित हुए और बोले—"हाँ, भगवन्! आपका कथन सर्वथा सत्य है। आपके वचनों पर हड़ताल लगाकर मैंने भूल की। अब मैं कहता हूँ, आपका एक-एक शब्द अनुभव और सत्य से भरा हुआ है।" तब व्यासजी ने उन्हें निकाला और श्रद्धापूर्वक उसका पारायण करने की आज्ञा देकर अपने आश्रम पर चले गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इसीलिये शास्त्रकारों ने इस मन को शठ किरात के समान, पुंश्चली पत्नी के समान बताया है। इसे मैंने जीत लिया, ऐसा कभी विश्वास न करे। जीवन पर्यन्त

इसकी लगाम को खींचता ही रहे, इसी बात को महाराज ययाति अपनी पत्नी देवयानी को बता रहे हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"हाँ, तो सूतजी ! फिरमहाराज ययाति ने क्या किया ?"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज ! अब मैं सम्राट् ययाति के अग्रिम चरित को सुनाता हूँ। आप प्रेमपूर्वक उसे श्रवण करें।"

छप्पय

नृपति ययाति विचार करें हा ! पाप कमायो।
पायो दुर्लभ देह भजन बिनु व्यर्थ गँवायो॥
सुत को यौवन लयो भोग भोगे निशि-वासर।
तोऊ तृप्ति न भई, लह्यो नहिं सुखमय अवसर॥
तातैं अब सब त्यागि कैं, तप हित बन महँ जाउँगो।
विषयाशा तजि भक्ति तैं, चित हरि माँहिं लगाउँगो॥

# महाराज ययाति को परमपद की प्राप्ति

[ ७६६ ]

स तत्र निर्मुक्तसमस्तसङ्ग आत्मानुभूत्या विधुतत्रिलिङ्गः ।
परेऽमले ब्रह्मणि वासुदेवे लेभे गतिं भागवतीं प्रतीतः ॥*
(श्री भाग० ९ स्क० १९ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

*यों करि पश्चाताप पूरु सुत तुरत बुलायो।*
*यौवन देकें लई जरा बहु विधि समझायो॥*
*सबकूँ दीयो राज पूरु सम्राट् बनाये।*
*राजपाट सब त्यागि गये वन मन हरषाये॥*
*करै घोंसला त्याग जब, पक्षी पर के जमत ही।*
*त्यों विराग में विरत है, वन गमने नृप तुरत ही॥*

प्रातःकाल का भूला यदि सायंकाल तक घर लौट आये, तो उसे भूला हुआ नहीं कहते। इन संसारी विषयों के भोगों में इतना अधिक आकर्षण है कि प्राणी मरते-मरते इनका परित्याग नहीं कर सकता। चाहे जितनी वैराग्य की बातें बताई जायँ इन

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! तदनन्तर उन विश्वविख्यात महाराज ययाति ने सम्पूर्ण सङ्गों से निर्मुक्त होकर आत्मानुभूति द्वारा इस त्रिगुणमय लिङ्गदेह से मुक्त होकर परब्रह्म परमात्मा वासुदेव को प्राप्त करके, भागवती गति प्राप्त की, जो प्रसिद्ध है।"

शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—सुखों में फँसी इन्द्रियों को उनसे हटाना अत्यन्त ही कठिन हो जाता है। जिस भाग्यशाली को पुण्यों के प्रभाव से–भगवत् कृपा से–विषय में वैराग्य हो जाय तथा यह सत् है, यह असत् है, ऐसा ज्ञान हो जाय, उसके सभी शुभ-अशुभ कर्म क्षीण हो जाते हैं। ज्ञानरूपी अग्नि समस्त भले-बुरे कर्मों को भस्मसात् कर देती है। कर्मों के नाश होने से पुरुष परमगति को प्राप्त होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज ययाति को विषयों से विराग उत्पन्न हुआ, तब उन्होंने अपने प्यारे पुत्र पुरु से पुनः अपनी अवस्था बदल ली। पुरु तरुण हो गये और महाराज देखते-देखते वृद्ध बन गये। उसी समय उन्होंने समस्त प्रजा के लोगों को बुलाकर कहा—"प्रजागण! मैं तो अब राजपाट छोड़-कर तप करने वन को जाऊँगा, तुम मेरे स्थान पर पुरु को ही समझना।

प्रजा के लोगों ने कहा—"राजन्! आप धर्म के मर्म को जानने वाले हैं। फिर भी आप ऐसा नीति-विरुद्ध कार्य क्यों कर रहे हैं? नियमानुसार यदु राजसिंहासन के अधिकारी हैं। ज्येष्ठ पुत्र ही राजगद्दी पाता है, यह सनातन नियम है। आप इस पर-म्परा से चले आये नियम को तोड़कर सबसे छोटे पुत्र पुरु को राजा क्यों बना रहे हैं?"

प्रजा के लोगों की ऐसी बात सुनकर राजा ने कहा—"प्रजा-जन! तुम्हारा विरोध उचित ही है। नियमानुसार राज्य का अधिकारी यदु ही था, किन्तु उसने पुत्रपने का कार्य किया नहीं। पुत्र वही है, जो माता-पिता की आज्ञाओं का पालन करे। मेरे यदु, तुर्वसु, अनु और द्रुह्यु इन चारों पुत्रों ने मेरा अनादर किया है, मेरी बात नहीं मानी है। अतः मैंने शाप देकर इन्हें राज्य

से च्युत कर दिया है। कनिष्ठ होने पर भी पुरु ने ज्येष्ठ का कार्य किया है, उसने अपने संयम, सदाचार तथा शील से मुझे सन्तुष्ट किया है। अत यही सब म श्रेष्ठ है, यही राज्य का अधिकारी है। मैं किसी द्वेषवश या पक्षपातयुक्त होकर ऐसा नहा कर रहा हूँ। मैंने प्रथम ही भगवान् शुक्राचार्य से निवेदन कर दिया था, कि जो पुत्र मेरी जरा अवस्था लेकर अपनी युवावस्था मुझे देगा, वही मेरे राज्य का अधिकारी होगा। भगवान् शुक्र ने इसका समर्थन भी कर दिया था और मुझे ऐसा वर भी दिया था। उसी के अनुसार मैं यह कार्य कर रहा हूँ? आप सब लोगों को मेरे इस कार्य का समर्थन करना चाहिए, क्योंकि जब तक आप सब समर्थन न करेंगे, कोई राजा, हो ही नहीं सकता।"

यह सुनकर प्रजा क लोगो ने साधु साधु कहकर महाराज के वचनों का समर्थन किया। तब राजराजेश्वर ययाति ने अपने हाथ से अपना सुवर्ण मंडित दिव्य मुकुट पुरु को पहना दिया। सभी प्रजा के लोगो ने पुरु को सम्राट् मानकर उनके प्रति आदर प्रदर्शित किया। महाराज ने अन्य चारो पुत्रों को भी एक एक दिशा का राज्य देकर पुरु के अधीन मण्डलेश्वर बना दिया। दक्षिण-पूर्व दिशा में द्रुह्यु को, दक्षिण में यदु को, पश्चिम म तुर्वसु को और उत्तर म अनु को राज्य दिये। इस प्रकार समस्त भूमण्डल का बँटवारा करके महाराज ययाति अपनी पत्नियां और ब्राह्मणों के सहित तपस्या करने वन म चले गये। महाराज के पाँचों पुत्रो के संतान हुई। यदु की संतति अले यादव कहलाये, तुर्वसु के वंशज (तुरुक) यवन हुए। द्रुह्यु के वंशज भोजवंशी कहलाये। अनु के वंशज समुद्र के तीरों और टापुओं पर रहने वाले म्लेच्छ हुए तथा पूरु के वंशज पौरव कहलाये।

राज पाट छोड़कर महाराज ययाति परम प्रमुदित हुए। वे

वानप्रस्थी मुनि का वेष बनाकर वन में रहकर घोर तपस्या करने लगे। कन्द-मूल-फल खाकर इन्द्रियों को जीतकर वे शास्त्रीय विधि से कठोर नियमों का पालन करते। उन्होंने विषयों की ओर से मुख मोड़ लिया। इस प्रकार सहस्रों वर्षों तक वे वन मे तप करते रहे। अन्त में अपनी पवित्र कीर्ति को पृथ्वी में ही छोड़कर देवताओं से वन्दित होकर, वे स्वर्ग में गये और वहाँ इन्द्र के समान ऐश्वर्य भोगते हुए सुखपूर्वक रहने लगे। उनकी सब लोकों में अव्याहत गति थी। वे जब चाहते, ब्रह्मलोक चले जाते, जब चाहते वरुणलोक में आनन्द-विहार करते। एक बार उन्हें स्वर्ग से च्युत भी होना पड़ा था।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! धर्मात्मा महाराज ययाति को स्वर्ग से च्युत क्यों होना पड़ा? कृपा करके इस कथा को हमें अवश्य सुनावें। ऐसा कौन-सा उनसे अपराध बन गया था?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अजी, महाराज! अपराध क्या बनना था! यह सब इन्द्र का षड्यन्त्र था। बात यह थी कि एक दिन इन्द्र ने पूछा—"राजन्! राजपाट छोड़कर वन में आपने किसके समान तपस्या की थी?"

उस समय बातों ही बातों में भाग्यवश राजा को अहंकार हो गया। वे बोले—"देवेन्द्र! आप मेरी तपस्या के सम्बन्ध में क्या पूछते हैं? मेरे बराबर किसी ने तपस्या की हो, तो उसका नाम भी बताऊँ। मैंने जैसी तपस्या की है, वैसी देवताओं में, मनुष्यों में, गन्धर्व तथा महर्षियों में से किसी ने की हो, ऐसा मुझे कोई भी दिखाई नहीं देता। मेरे बराबर तपस्या करने वाला कोई भी न होगा।"

यह सुनकर इन्द्र हँस पड़े। उनका षड्यन्त्र सफल हुआ।

वे बोले—"राजन् अपने पुण्य की अपने मुख से ही जो प्रशंसा करता है, उसका वह पुण्य उसी समय क्षीण हो जाता है, एक बात। दूसरी बात यह कि आप सबकी तपस्या के सम्बन्ध में जानते भी नहीं। बिना जाने आपने अपने समान तथा अपने से श्रेष्ठ पुरुषों का अनादर किया। अतः आपके सब पुण्य क्षीण हो गये। पुण्य क्षीण होने पर प्राणी स्वर्ग में नहीं रह सकता! अब आपको मर्त्यलोक में उलटा मुख करके गिरना होगा। सम्हलिये! गिरने के लिये तैयार हो जाइये।"

यह सुनकर ज्ञानी महाराज ययाति तनिक भी विचलित नहीं हुए, वे बोले—"*यदि भूल से दूसरों के अनादर के कारण मेरे* पुण्यों का नाश होने से मुझे नीचे गिरना पड़े, तो इसकी मुझे चिन्ता नहीं। किन्तु देवराज! मैं यह चाहता हूँ, स्वर्ग से च्युत होने पर भी मुझे सज्जनों के ही बीच रहना पड़े।"

देवराज ने 'तथास्तु' कहा। देवदूत ने उन्हें तुरन्त नीचे गिरा दिया। वे अपने तेज से दशों दिशाओं को आलोकित करते हुए राजर्षि विश्वामित्र के पुत्र अष्टक की यज्ञभूमि में गिरे। उस समय वहाँ प्रतर्दन, वसुमना और महाराज उशीनर के पुत्र पुण्यश्लोक शिवि भी उपस्थित थे। जब महाराज ययाति राज्य कर रहे थे, तब उनके समीप एक स्नातक गुरुदक्षिणा के निमित्त विपुल धन माँगने आये थे। महाराज के पास उतना धन नहीं था। अतः उन्होंने अपनी पुत्री माधवि को दे दी। उस पुत्री से ही भिन्न भिन्न राजाओं से ये अष्टकादि चार पुत्र उत्पन्न हुए थे। इस सम्बन्ध से इनके महाराज मातामह (नाना) लगते थे। इन सब को यह बात विदित नहीं थी। महाराज ने पृथ्वी का स्पर्श नहीं किया। अधर में ही खड़े-खड़े उन्होंने अष्टक के सभी प्रश्नों का उत्तर दिया, सत्संग किया। इसके प्रभाव से महाराज ययाति

पुनः अपने धेवतों के सहित लौटकर स्वर्ग गये। वहाँ से वे अन्यान्य लोकों में विहार करते हुए भगवान् के नित्यधाम वैकुण्ठ मे गये, जहाँ से पुनः लौटना नहीं होता। इस प्रकार महात्मा ययाति ने भगवत्भक्ति के प्रभाव से परमपद को प्राप्त किया।

देवयानी से जब महाराज ने बकरा-बकरी की कथा कही थी, तब प्रथम तो उन्होंने हँसी-विनोद ही समझा। जब महाराज सर्वस्व त्याग करके वन को चलने लगे, तब देवयानी भी इन संसारी भोगों और सम्बन्धों को अनित्य तथा क्षणभंगुर समझ कर और यह जानकर कि सब भगवान् की माया से ही रचा गया है, सत्य नहीं, स्वप्न के समान है, इन निखिल पदार्थों की आसक्ति को त्यागकर श्रीकृष्णचन्द्र में चित्त लगाकर तन्मय हो गई और फिर अपनी इस लिङ्गदेह को त्यागकर सत्-स्वरूप में मिल गई।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार मैंने परम यशस्वी महाराज ययाति का चरित, जिन भगवान् वासुदेव की कृपा से कहा, उन सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक, सम्पूर्ण जगत् के रचयिता, सकल भूतों के आश्रय स्थान शान्त स्वरूप श्रीहरि के पादपद्मों में बार-बार प्रणाम करता हूँ।"

छप्पय

घोर तपस्या करी चित्त भगवत् महँ लाग्यो।
त्रिभुवन ब्यापी कीर्ति अंत महँ नृप तन त्याग्यो॥
गये स्वर्ग तप अहङ्कार तैं गिरि भुवि आये।
करि सज्जन सत्संग फेरि हू स्वर्ग सिधाये॥
सब लोकनि के भोगि सुख, करी नहीं तिन महँ रती।
पहुँचे पुनि वैकुण्ठ नृप, पाई भागवती - गती॥

———

# पुरुवंशी महाराज दुष्यन्त

[ ७६७ ]

पूरोर्वंशं प्रवक्ष्यामि यत्र जातोऽसि भारत।
यत्र राजर्षयो वंश्या ब्रह्मवंश्याश्च जज्ञिरे ॥*

(श्री भा० ९ स्क० २० अ० १ श्लोक०)

छप्पय

नृप ययाति लघु पुत्र पूरु को वंश सुनाऊँ।
जन्मेजय तिनि पुत्र भये, तिन कुल-यश गाऊँ ॥
चौदह पीढ़ी मोहिँ भये दुष्यन्त भूपवर।
परम यशस्वी वीर शत्रुजित वंश यशस्कर ॥
देवबधूटी मेनका, सुता प्रेम मह फँसि गये।
भयो 'वर्ष' जिनि नाम तैं, भरत तनय तिनके भये ॥

वंश परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखना पितृऋण से उऋण होने के लिये अत्यावश्यक है। पितरों को आशा लगी रहती है, कि हमारे वंश में कोई ऐसा तेजस्वी, तपस्वी, यशस्वी तथा भगवद्भक्त होगा, स्वयं तो तरेगा ही, अपने आगे-पीछे की पीढ़ियों

---

* श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित से कह रहे हैं—"राजन्! मैं अब उसी पुरुवंश का वर्णन करता हूँ, जिस पुरुवंश में आपका जन्म हुआ है, जिस वंश में बहुत-से राजर्षियों का जन्म हुआ है और ब्राह्मण-वंश इससे चले हैं।"

को भी तार देगा। पृथ्वी पर, जितने दिनों तक जिसका यश रहता है, वह उतने ही दिनों तक स्वर्ग में रहकर सुखों का उपभोग करता है। जिसे यहाँ कोई नहीं जानता, उसे स्वर्ग में रहने का स्थान कैसे मिल सकता है? जिनके नाम से वंश विख्यात होता है, जिनका नाम नित्य पुरुष लेते हैं, वे तो अपने यश-शरीर से सदा अमर ही बने हुए हैं। पंचभौतिक शरीर न रहने पर भी उनकी कीर्तिमय देह सर्वत्र व्याप्त रहती है।

श्रीसूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज ययाति के सबसे छोटे पुत्र पुरु के वंश को अब मैं सुनाता हूँ। इस वंश में क्षत्रिय तो हुए ही, बहुत से ऐसे भी वंश हुए हैं, जो अपने शुद्धाचरण से ब्राह्मण बन गये। इस प्रकार इस वंश में राजर्षियों और ब्रह्मर्षियों का भी जन्म हुआ।

महाराज पुरु के पुत्र जन्मेजय हुए, जो पौरव के नाम से विख्यात हुए। जन्मेजय के पुत्र प्रचिन्वान् हुए। उनके पुत्र प्रवीर और प्रवीर के नमस्यु हुए। नमस्यु के चारुपद, उनके सुधु, सुधु के बहुगव, उनके संयाति और संयाति के पुत्र हंयाति हुए। हंयाति के परम यशस्वी धर्मात्मा पुत्र रौद्राश्व हुए। इन महाराज रौद्राश्व ने स्वर्ग की परम सुन्दरी घृताचिसे दश पुत्र उत्पन्न किये, जिनके नाम ऋतेयु, कुक्षेयु, स्थण्डिलेयु, कृतेयु, जलेयु, संन्तेयु, धर्मेयु, सत्येयु, व्रतेयु, और वनेयु प्रसिद्ध हुए।

इनमें सबसे बड़े ऋतेयु थे। अतः नियमानुसार ऋतेयु ही राजगद्दी पर बैठे। इन ऋतेयु के पुत्र का नाम रन्तिभार हुआ! महाराज रन्तिभार परम धार्मिक, यशस्वी तथा राजर्षि थे। उनके सुमति, ध्रुव और अप्रतिरथ—ये तीन परम यशस्वी पुत्र हुए। सबसे बड़े सुमति थे, अतः नियमानुसार वे राजा हुए। सबसे छोटे अप्रतिरथ बड़े धर्मात्मा तथा ब्राह्मण प्रकृति के थे। उनके

पुत्र राजर्षि कण्व हुए। कण्व के पुत्र मेधातिथि, जिनके पुत्र प्रस्कण्व आदि अपने शुभ कर्मों से ब्राह्मण बन गये। इनका वंश क्षत्रिय वंश से पृथक् हो गया। अब सबसे बड़े रन्तिभार-तनय महाराज सुमति के वंश को सुनिये। महाराज सुमति के पुत्र रैभ्य हुए। इन्हीं रैभ्य के पुत्र परम यशस्वी महाराज दुष्यन्त हुए, जिन्होंने मेनका अप्सरा से उत्पन्न हुई परम सुन्दरी शकुन्तला से विवाह किया था।"

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! महाराज दुष्यन्त की देवी शकुन्तला से कहाँ भेंट हुई और किस प्रकार उनका विवाह हुआ? इस प्रसङ्ग को हमें सुनाइये।"

सूतजी बोले—"महाराज! यह प्रसङ्ग बड़ा रोचक और सरस है। इसे मैं आप को सुनाता हूँ। महाराज दुष्यन्त पौरव-वंश में रत्न के समान प्रकाशमान हुए हैं। वे परम धर्मात्मा थे। आसमुद्रान्त समस्त भूमण्डल के वे एकमात्र अधीश्वर थे। उनके समान राजा इस पृथ्वी पर कोई दूसरा नहीं था। म्लेच्छ, आभीर यवन तथा समस्त वर्णाश्रमी उनका शासन मानते थे। उनके राज्य में पृथ्वी को जोतने-बोने की आवश्यकता नहीं थी। बिना जोते बोये ही वह भाँति-भाँति के अन्न देती थी। समय पर अपने आप वृष्टि होती थी। ब्राह्मण तप में निरत रहते थे, क्षत्रिय धर्म पूर्वक प्रजा का पालन करते थे, वैश्य व्यवहार में कपट नहीं करते थे, और शूद्र श्रद्धा सहित सभी वर्णों की सेवा करते थे। स्वयं भी राजा बड़े हृष्ट-पुष्ट तथा युद्ध-विद्या-विशारद थे। वे बल में विष्णु भगवान् के समान और तेज में सूर्य के समान थे। प्रजा उनके व्यवहार से सदा सन्तुष्ट रहती थी। ऐसा सम्राट पाकर सभी अपने भाग्य की सराहना करते थे।

महाराज दुष्यन्त मृगया के बड़े प्रेमी थे। वे अपनी राजधानी

हस्तिनापुर के आस-पास के वनों में मृगया के निमित्त प्रायः जाया करते थे। एक बार महाराज अपनी सेना सहित बड़े ठाट-बाट से वन मे मृगया के निमित्त चले। प्रजा जनों (राज्य के स्त्री पुरुषों) को जब पता चला कि महाराज कई दिनों के लिये वन में आखेट के निमित्त जा रहे हैं, तब तो सब मारे प्रेम के राजा के दर्शनों के लिये एकत्रित हो गये। कुलवती महिलायें अपनी अटारियों से महाराज के दर्शन करने लगीं। प्रजाजन जय-जयकार करते हुए उनके पीछे चले। आगे-आगे बाजे बजते जाते थे, पीछे-पीछे उनकी चतुरङ्गिणी सेना चल रही थी। कैलाश-शिखर के समान हाथी पर चढ़े हुए महाराज राज पथ से जा रहे थे। उनके ऊपर सुवर्ण की तानों वाला श्वेत छत्र तना था। दोनों ओर चँवर डुल रहे थे। प्रजा अतृप्त नेत्रों से उनके दर्शन कर रही थी। नगर से बाहर जाकर महाराज ने सभी को प्रेम-पूर्वक लौटा दिया। अब वे ऐसे बीहड़ वन में घुस गये, जिसमें बहुत से हिंस्र जन्तु निवास करते थें। राजा ने बहुत से सिंहों, व्याघ्रों, मृगों, सूअरों तथा अन्यान्य जङ्गली जीवों को मारा। सैनिकों ने उस वन में खलबली मचा दी। मृग भागने लगे, हाथी चिंघाड़ने लगे, सिंह दहाड़ने लगे, वन्य जन्तु भय से इधर-उधर छिपने लगे। सैनिक कच्चा मांस ही खाने लगे, हँसने लगे, गाने-बजाने लगे। महाराज स्वयं सूअरों और सिंहों का पीछा करते, उनके अंग-रक्षक उनका अनुगमन करते। सैनिक सभी प्रमत्त हो रहे थे। राजा वन में आकर उनकी स्वच्छन्दता और भी बढ़ गयी थी। राजा एक वन से दूसरे वन में, और दूसरे से तीसरे वन में, फिरने लगे।

तीसरे वन में जाकर महाराज बहुत थक गये। अब वे कहीं विश्राम की बात सोच रहे थे। उस समय अभिसारिका की

भाँति मन्द-मन्द गति से प्रवाहित उन्हें मालिनी नदी दिखाई दी। उसमें जल तो बहुत नहीं था, किन्तु जितना भी था, स्वच्छ था। उसके दोनो तटों पर हंस, सारस, चक्रवाक, जल-कुक्कुट तथा अन्यान्य जल-जन्तु किलोल कर रहे थे। उसी नदी के तट पर उन्हें एक सुन्दर आश्रम दिखाई दिया। उस आश्रम में भाँति-भाँति के चिकने पत्ते वाले वृक्ष लगे हुए थे, उनमे कोई कँटीला या फल-पुष्पहीन वृक्ष न था। उन पर बैठे हुए पक्षी अपनी मधुर ध्वनि से आतिथ्य के लिये मानों पथिकों का आह्वान कर रहे हों। झींगुरों की झङ्कार में कोकिलों का कमनीय कूजन मिलकर एक विचित्र स्वर की सृष्टि कर रहा था। उड़ते हुए तोते कुछ कहते जाते थे। कबूतर दाने चुग रहे थे। अन्य पक्षी कुछ उड़ रहे थे, कुछ घोसलों मे बैठे थे।

आश्रमस्थ वृक्ष हरे-भरे और छायादार थे। वृक्षों मे वेलें लिपट रही थीं, हिल-हिलकर वे पुनः-पुनः उनके तनों को आलि-गन कर रही थीं। उन पर जो पुष्प लगे हुए थे, मानों वे रङ्ग-विरंगे वस्त्रो से अपने को ढॉके हुए हो। वृक्षों की विशाल शाखायें मानो आकाश को स्पर्श करने के लिये परस्पर प्रतिस्पर्द्धा कर रही हों। फल और पुष्पों के भार से नत हुई शाखाओं के ऊपर मधु-लोलुप भ्रमर बैठकर तन्मयता के साथ मधु पान कर रहे थे। शीतल, मन्द, सुगन्धि वाला पवन पुनः-पुनः उन पादपों के फल पुष्पो से नत हुई डालियों को झकझोर रहा था। उस अनुपम आश्रम के दर्शन से महाराज का मन अत्यन्त ही प्रमुदित हुआ। वे चकित-चकित दृष्टि से उस आश्रम को निहार रहे थे। मालिनी नदी उस आश्रम के बीच से बह रही थी नदी मे से छोटे-छोटे जलस्रोत आश्रम के वृक्षों को सींचने के लिये बनाये गये थे। स्थान-स्थान पर लताओं के वितान बने थे, जिनके पुष्पों की

सुगन्ध से सम्पूर्ण आश्रम सुवासित हो रहा था। सम्मुख ही उन्हें एक जटाधारी तापस दिखाई दिये।

महाराज ने विनय के साथ, हाथ जोड़ कर, पूछा—"तपोधन! मैं जानना चाहता हूँ कि यह किन महर्षि का आश्रम है।"

तापस ने कहा—"राजन्! यह कश्यप-कुलोद्भव कुलपति भगवान् कण्व का आश्रम है।"

यह सुनकर महाराज को परम प्रसन्नता हुई। उन्होंने मन-ही-मन सोचा—"आज मेरा अहोभाग्य है, जो लोकपाल-तुल्य भगवान् कण्व के आश्रम पर मैं आ गया आज मैं उन महर्षि के दर्शन करके अपने जीवन को सफल करूँगा।" ऐसा सोचकर वे आश्रम के द्वार पर पहुँचकर रथ से उतर पड़े। उन्होंने छत्र-चँवर आदि राजसी चिह्न हटा दिये। साधारण वेश में वे अपने एक निजी मन्त्री और पुरोहित को लेकर भगवान् कण्व के दर्शनों को गये। उन्होंने सभी सैनिकों को आदेश दे दिया—"यह मुनि-आश्रम है, कोई किसी प्रकार की यहाँ चञ्चलता या उपद्रव न करे। कोई मेरे पीछे न आवे। चुपचाप शान्ति के साथ यहाँ ठहरे रहें।" इस प्रकार आज्ञा देकर महाराज ने आश्रम में प्रवेश किया। उन्होंने देखा कि स्थान-स्थान पर सिंह, मृग, व्याघ्र स्वच्छन्द होकर वहाँ बैठे जुगाली कर रहे हैं। ये सब आश्रम के पालतू जन्तु हैं। ये मनुष्यों से भय नहीं करते, किसी पर प्रहार नहीं करते। मोर इधर-उधर दौड़ रहे हैं, पंख फैलाकर नृत्य कर रहे हैं। स्थान-स्थान पर देवताओं के पीठ बने हैं। छोटी-छोटी पर्ण-कुटियों में मुनिगण निवास कर रहे हैं। बहुत-सी यज्ञ-वेदियाँ बनी हुई हैं। उनमें से कपोत के समान धूम निकलकर आकाश में सुगन्धि भरता हुआ विलीन हो रहा है। ब्रह्मचारी इधर-उधर

मृगशावकों के समान फुदक रहे हैं। महर्षि बैठे हुए ध्यान कर रहे हैं, कुछ सामवेद के मन्त्रों का सस्वर गान कर रहे हैं, कुछ ऋग्वेद का पाठ कर रहे हैं, कुछ यजुर्वेद की संहिताओं का स्वर-सहित उच्चारण कर रहे हैं। कुछ बच्चे फल तोड़ रहे हैं, बहुत से कुश-समिधाओं को बाँध रहे हैं। बहुत से उटजों और पर्णशालाओं के आँगनों को गोबर से लीप रहे हैं। उस आश्रम में दश सहस्र तपस्वी ऋषि मुनि, ब्रह्मचारी तथा वानप्रस्थी निवास करते थे। वह वैकुण्ठ के समान आश्रम बड़ा ही रमणीक सुन्दर था। वहाँ स्वच्छता तो इतनी थी कि कहीं अशुचिता का नाम तक नहीं था।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! राजा उस अनुपम शोभायुक्त आश्रम को कुतूहल के साथ निहारते हुए भगवान् कण्व की कुटी की ओर बढ़े।"

### छप्पय

मृगया-हित नृप गये सेन सजि निर्जन वन महँ।
सिंह व्याघ्र मृग मारि श्रमित ह्वै सोचें मन महँ॥
ऋषि आश्रम इत होहि मिटाऊँ श्रम तहँ जाई।
कण्वाश्रम तब दिव्य दूर तैं दयो दिखाई॥
राजचिह्न तजि चले नृप, माली श्री लखि ह्वै चकित।
खग-मृग-सेवित पुष्प-फल-युत आश्रम शोभा लसत॥

इससे आगे की कथा २४वें खण्ड में पढ़िये।

कीर्तनीयो सदा हरिः

सचित्र

# भागवत चरित

( सप्ताह )

रचयिता—श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी

श्रीमद्भागवत के १२ स्कन्धों को भागवत सप्ताह के क्रम से ७ भागों में बाँट कर पूरी कथा छप्पय छन्दों में वर्णन की है। श्रीमद्भागवत की भाँति इसके भी साप्ताहिक, पाक्षिक तथा मासिक पारायण होते हैं। सैकड़ों भागवत चरित व्यास बाजे तबले पर इसकी कथा कहते हैं। लगभग हजार पृष्ठ की सचित्र कपड़े की सुदृढ़ जिल्द की पुस्तक की न्योछावर ६)५० मात्र है। थोड़े ही समय में इसके २३००० के ५ संस्करण छप चुके हैं। दो खंडों में हिन्दी टीका सहित भी छप रही है। प्रथमखंड प्रकाशित हो चुका है। उसकी न्योछावर ११) हैं। दूसरा खंड प्रेस में है।

---

नोट—हमारी पुस्तकें समस्त संकीर्तन भवनों में मिलती हैं। सारी पुस्तकों का डाक खर्च अलग देना होगा।

, भूसी ( प्रयाग )